उतने आकृष्ट न हुए, जितने उस अनुवाद के प्रति। फलतः वही अनुवाद हेर-फेर के साथ कई रूपों में हिन्दी-पाठकों के सामने लाया गया। फिर भी 'प्रसाद' जी की मौलिक प्रतिभा इस सुन्दर ऐतिहासिक नाटक को अपने ढंग पर लिखने में प्रवृत्त हुई। और बड़ी प्रसन्नता की बात है कि वे अपने प्रयास में सफल ही नहीं, पूर्ण सफल हुए हैं। भाषा, भाव, चरित्र-चित्रण, सभी दृष्टियों से इस नाटक का अधिकांश इतना मार्मिक हुआ है कि 'प्रसाद' जी की लेखनी पर अत्यन्त मुग्ध हो उठ पड़ता है। कुल मिलाकर हमारी समझ में 'प्रसाद' जी के ब नाटकों में यह सर्वश्रेष्ठ है। इसमें 'कल्याणी-परिणय' भी यथा प्रसंग परिवर्तित और परिवर्द्धित होकर सम्मिलित हो गया है

यह ग्रंथ दो वर्ष पहिले ही प्रेस में दे दिया गया था, किन् ऐसे कारण आते गये कि यह अबके पहले प्रकाशित न हो सका; हमें इसका खेद है।

अस्तु,

यह वर्षों का अन्वेषण-पूर्ण उद्योग आज इस रूप में हम पाठकों के सामने बड़े हर्ष के साथ उपस्थित करते हैं।

रथयात्रा, '८८, (पहले संस्करण से)

प्रिय सुहृद्वर
राय कृष्णदास
को

प्रीति-उपहार

चन्द्रगुप्त

अंगण-वेदी वसुधा कुल्या जलधिः, स्थली च पातालम् ।
वल्मीकश्च सुमेरुः, कृत-प्रतिज्ञस्य वीरस्य ॥

—हर्षचरित

मौर्य्य-वंश

प्राचीन आर्य्य नृपतिगण का साम्राज्य उस समय नहीं रह गया था। चन्द्र और सूर्य्यवंश की राजधानियाँ अयोध्या और हस्तिनापुर विकृत रूप में भारत के वक्षस्थल पर अपने साधारण अस्तित्व का परिचय दे रही थीं। अन्य प्रचण्ड वर्वर जातियों की लगातार चढ़ाइयों से पवित्र सप्तसिंधु प्रदेश में आर्य्यों के साम-गान का पवित्र स्वर मंद हो गया था। पाञ्चालों की लीला-भूमि तथा पंजाब मिश्रित जातियों से भर गया था। जाति, समाज और धर्म्म सब में एक विचित्र मिश्रण और परिवर्तन-सा हो रहा था। कहीं आभीर और कहीं ब्राह्मण राजा बन बैठे थे। यह सब भारत-भूमि की भावी दुर्दशा की सूचना क्यों थी? इसका उत्तर केवल यही आपको मिलेगा, कि—धर्म-सम्बन्धी महा-परिवर्तन होनेवाला था। वह बुद्ध से प्रचारित होने वाले बौद्ध धर्म की ओर भारतीय आर्य्य लोगों का झुकाव था, जिसके लिये वे लोग प्रस्तुत हो रहे थे।

उस धर्म्मबीज को ग्रहण करने के लिये कपिल, कणाद आदि ने आर्य्यों का हृदय-क्षेत्र पहले ही से उर्वर कर दिया था, किन्तु यह मत सर्वसाधारण में अभी नहीं फैला था। वैदिक कर्मकाण्ड की जटिलता से उपनिषद् तथा सांख्य आदि शास्त्र आर्य्य लोगों को सरल और सुगम प्रतीत होने लगे थे। ऐसे ही समय पार्श्वनाथ ने एक जीव-दयामय धर्म प्रचारित किया और वह धर्म बिना किसी शास्त्र-विशेष के, वेद तथा प्रमाण की अपेक्षा करते हुए फैल कर शीघ्रता के साथ सर्वसाधारण से

सम्मान पाने लगा। आर्यों की राजसूय और अश्वमेध आदि शक्ति बढ़ानेवाली क्रियायें शून्य स्थान में ध्यान और चिन्तन के रूप में परि-वर्तित होगयीं; अहिंसा का प्रचार हुआ। इससे भारत की उत्तरी सीमा में स्थित जातियों को भारत में आकर उपनिवेश स्थापित करने का उत्साह हुआ। दार्शनिक मत के प्रबल प्रचार से भारत में धर्म,समाज और साम्राज्य, सबमें विचित्र और अनिवार्य परिवर्तन हो रहा था। बुद्धदेव के दो-तीन शताब्दी पहले ही दार्शनिक मतों ने, उन विशेष बन्धनों को, जो उस समय के आर्यों को उद्विग्न कर रहे थे,तोड़ना आरम्भ किया। उस समय ब्राह्मण वल्कलधारी होकर काननों में रहना ही अच्छा न समझते, वरन् वे भी राज्यलोलुप होकर स्वतन्त्र छोटे-छोटे राज्यों के अधिकारी बन बैठे। क्षत्रियगण राजदण्ड को बहुत भारी तथा अस्त्र-शस्त्रों को हिंसक समझ कर उनकी जगह जप-चक्र हाथ में रखने लगे। वैश्य लोग भी व्यापार आदि में मनोयोग न देकर, धर्माचार्य की पदवी को सहज समझने लगे। और तो क्या, भारत के प्राचीन दास भी अन्य देशों से आयी हुई जातियों के साथ मिल कर दस्यु-वृत्ति करने लगे।

वैदिक धर्म पर क्रमशः बहुत से आघात हुए, जिनसे वह जर्जर हो गया। कहा जाता है, कि उस समय धर्म की रक्षा करने को तत्पर ब्राह्मणों ने अर्बुदगिरि पर एक महान् यज्ञ करना आरंभ किया और उस

पूर्ववत् सम्मानित करने लगे। जिन जातियों को अपने कुल की क्रमागत वंश-मर्य्यादा भूल गयी थी, वे तपस्वी और पवित्र ब्राह्मणों के यज्ञ से संस्कृत होकर चार जातियों में विभाजित हुईं। इनका नाम अग्निकुल हुआ। सम्भवतः इसी समय में तक्षक वा नागवंशी भी क्षत्रियों की एक श्रेणी में गिने जाने लगे।

यह धर्म्म-क्रांति भारतवर्ष में उस समय हुई थी, जब जैनतीर्थङ्कर पार्श्वनाथ हुए, जिनका समय ईसा से ८०० वर्ष पहले माना जाता है। जैन लोगों के मत से भी इस समय में विशेष अन्तर नहीं है। ईसा के आठ सौ वर्ष पूर्व यह बड़ी घटना भारतवर्ष में हुई, जिसने भारतवर्ष में राजपूत जाति बनाने में बड़ी सहायता दी और समय-समय पर उन्हीं राजपूत क्षत्रियों ने बड़े-बड़े कार्य किये। उन राजपुत्रों की चार जातियों में प्रमुख परमार जाति थी और जहाँ तक इतिहास पता देता है—उन लोगों ने भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में फैलकर नवीन जनपद और अक्षय कीर्ति उपार्जित की। धीरे-धीरे भारत के श्रेष्ठ राजन्यवर्गों में इनकी गणना होने लगी। यद्यपि इस कुल की भिन्न-भिन्न पैंतीस शाखायें हैं; पर सब में प्रधान और लोक-विश्रुत मौर्य नाम की शाखा हुई। भारत का शृङ्खलाबद्ध इतिहास नहीं है, पर बौद्धों के बहुत से शासन-सम्बन्धी लेख और उनकी धर्म्म-पुस्तकों से हमें बहुत सहायता मिलेगी, क्योंकि उस धर्म को उन्नति के शिखर पर पहुँचानेवाला उसी मौर्य्य-वंश का सम्राट् अशोक हुआ है। बौद्धों के विवरण से ज्ञात होता है, कि शैशुनाक-वंशी महानन्द के संकर पुत्र महापद्म के पुत्र घननन्द से मगध का सिंहासन लेने वाला चन्द्रगुप्त मोरियों के नगर का राज-

कुमार था। यह मोरियों का नगर पिप्पली-कानन था, और पिप्पली-कानन के मौर्य्य नृपति लोग भी बुद्ध के शरीर--भस्म के भाग लेनेवालों में एक थे।

मौर्य्य लोगों की उस समय भारत में कोई दूसरी राजधानी न थी। यद्यपि इस बात का पता नहीं चलता, कि इस वंश के आदि पुरुषों में से किसने पिप्पली-कानन में मौर्य्यों की पहली राजधानी स्थापित की; पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है, कि ईसा से ५०० वर्ष या इससे पहले यह राजधानी स्थापित हुई और मौर्य्य-जाति, इतिहासप्रसिद्ध कोई ऐसा कार्य्य तब तक नहीं कर सकी जब तक प्रतापी चन्द्रगुप्त उसमें न उत्पन्न हुआ। उसने मौर्य्य शब्द को, जो अब तक भारतवर्ष के एक कोने में पड़ा हुआ अपना जीवन अपरिचित रूप से बिता रहा था, केवल भारत ही नहीं, वरन् ग्रीस आदि समस्त देशों में परिचित करा दिया। ग्रीक इतिहास-लेखकों ने अपनी भ्रमपूर्ण लेखनी से इस चन्द्रगुप्त के बारे में कुछ तुच्छ बातें लिख दी हैं, जो कि बिलकुल असम्बद्ध ही नहीं, वरन् उलटी हैं। जैसे—'चन्द्रगुप्त नाइन के पेट से पैदा हुआ महानन्दिन का लड़का था।' पर यह बात पोरस ने महापद्म और धननन्द आदि के लिये कही है* और वही पीछे से चन्द्रगुप्त के लिये भ्रम से यूनानी ग्रंथकारों ने लिख दी है। ग्रीक इतिहास-लेखक

*Alexander who did not at first believe this inquired from King Porus whether this account of the power of Zandrames was true and he was told by Porus that it was true, but that the king was but of mean and obscure extraction accounted to be a bar-

Plutarch लिखता है, कि चन्द्रगुप्त मगध-सिंहासन पर आरोहण करने के बाद कहता था कि सिकन्दर महापद्म को अवश्य जीत लेता, क्योंकि यह नीचजन्मा होने के कारण जन-समाज में अपमानित तथा घृणित था। लिबानियस आदि लेखकों ने तो यहाँ तक भ्रम डाला है, कि पोरस ही नापित से पैदा हुआ था। पोरस ने ही यह बात कही थी, इससे वही नापित-पुत्र समझा जाने लगा तो क्या आश्चर्य है, कि तक्षशिला में जब चन्द्रगुप्त ने यही बात कही थी, तो वही नापित-पुत्र समझा जाने लगा हो। ग्रीकों के भ्रम से ही यह कलंक उसे लगाया गया है।

एक बात और भी उस समय तक निर्धारित नहीं हुई थी, कि Sandrokottus और Zandrames भिन्न-भिन्न दो व्यक्तियों का या एक का ही नाम है। यह तो H. H. Wilson ने विष्णु-पुराण आदि के सम्पादन-समय में सन्ड्रोकोटस और चन्द्रगुप्त को एक में मिलाया। यूनानी लेखकों ने लिखा है कि Zandrames ने बहुत सेना लेकर सिकन्दर से मुकाबिला किया। उन्होंने उस प्राच्य देश के राजा Zandrames को, जो नन्द था, भूल से चन्द्रगुप्त समझ लिया—जो कि तक्षशिला में एक बार सिकन्दर से मिला था और बिगड़कर लौट आया था। चन्द्रगुप्त और सिकन्दर की भेंट हुई थी, इस लिये भ्रम से वे लोग Sandrakottus और Zandrames को

---

ber's son; that the queen, however, had fallen in love with the barber, had murdered her husband and that the kingdom had thus devolved upon Zandrames.

DIODORUS SICULUS,

in History of A. S. Literature

एक समझकर नन्द की कथा को चन्द्रगुप्त के पीछे जोड़ने लगे।

चन्द्रगुप्त ने पिप्पली-कानन के कोने से निकल कर पाटलीपुत्र पर अधिकार किया। मेगास्थनीज़ ने इस नगर का वर्णन किया है और पारस की राजधानी से बढ़कर बतलाया है। अस्तु, मौर्यों की दूसरी राजधानी पाटलीपुत्र हुई।

पुराणों के देखने से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त के बाद नौ राजा उसके वंश में मगध के सिंहासन पर बैठे। उनमें अन्तिम राजा वृहद्रथ हुआ, जिसे मारकर पुष्यमित्र—जो शुङ्ग-वंश का था—मगध के सिंहासन पर बैठा; किन्तु चीनी यात्री हुएनत्सांग, जो हर्षवर्धन के समय में आया था, लिखता है—"मगध का अन्तिम अशोकवंशी पूर्णवर्म्मा हुआ, जिसके समय में शशांकगुप्त ने बोधिद्रुम को विनष्ट किया था और उसी पूर्णवर्म्मा ने बहुत से गौ के दुग्ध से उस उन्मूलित बोधिद्रुम को सींचा, जिससे वह शीघ्र ही फिर बढ़ गया।" यह बात प्रायः सब मानते हैं कि मौर्यवंश के नौ राजाओं ने मगध के राज्यासन पर बैठकर उसके अधीन के समस्त भूभाग पर शासन किया। जब मगध के सिंहासन पर से मौर्यवंशियों का अधिकार जाता रहा, तब उन लोगों ने एक प्रादेशिक राजधानी को अपनी राजधानी बनाया। प्रबल प्रतापी चन्द्रगुप्त का राज्य चार प्रादेशिक शासकों से शासित होता था। अवन्ती, स्वर्णगिरि, तोषली और तक्षशिला में अशोक के चार सूबेदार रहा करते थे। इनमें अवन्ती के सूबेदार प्रायः राजवंश के होते थे। स्वयं अशोक उज्जैन का सूबेदार रह चुका था। सम्भव है कि मगध का शासन डावाँडोल देखकर मगध के आठवें मौर्य नृपति

सोमशर्म्मा के किसी राजकुमार ने, जो कि अवन्ती का प्रादेशिक शासक रहा हो, अवन्ती को प्रधान राजनगर बना लिया हो, क्योंकि उसकी एक ही पीढ़ी के बाद मगध के सिंहासन पर शुङ्गवंशियों का अधिकार हो गया। यह घटना संभवतः १७५ ई० पूर्व हुई होगी, क्योंकि १८३ में सोमशर्मा मगध का राजा हुआ। भट्टियों के ग्रन्थों में लिखा है कि मौर्य्य-कुल के मूलवंश से उत्पन्न हुए परमार नृपतिगण ही उस समय भारत के चक्रवर्ती राजा थे, और वे लोग कभी-कभी उज्जयिनी में ही अपनी राजधानी स्थापित करते थे।

टाड ने अपने राजस्थान में लिखा है कि जिस चन्द्रगुप्त की महान् प्रतिष्ठा का वर्णन भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा है, उस चन्द्रगुप्त का जन्म पवाँर-कुल की मौर्य्य शाखा में हुआ है। सम्भव है कि विक्रम के सौ या कुछ वर्ष पहले जब मौर्य्यों की राजधानी पाटलीपुत्र से हटी, तब इन लोगों ने उज्जयिनी को प्रधानता दी और वहाँ पर अपने एक प्रादेशिक शासक की जगह राजा की तरह रहने लगे।

राजस्थान में पवाँर-कुल के मौर्य्य नृपतिगण ने इतिहास में प्रसिद्ध बड़े-बड़े कार्य किये, किन्तु ईसा की पहली शताब्दी से लेकर ५ वीं शताब्दी तक प्रायः उन्हें गुप्तवंशी तथा अपर जातियों से युद्ध करना पड़ा। भट्टियों ने लिखा है कि उस समय मौर्य्य-कुल के परमार लोग कभी उज्जयिनी को और कभी राजस्थान की धारा को अपनी राजधानी बनाते थे।

इसी दीर्घकालव्यापिनी अस्थिरता में मौर्य्य लोग जिस तरह अपनी प्रभुता बनाये रहे, उस तरह किसी वीर और परिश्रमी जाति के सिवा

दूसरा नहीं कर सकता । इसी जाति के महेश्वर नामक राजा ने विक्रम के ६०० वर्ष बाद कार्तवीर्य्यार्जुन की प्राचीन महिष्मती को जो नर्मदा के तट पर थी, फिर से बसाया और उसका नाम महेश्वर रखा, उन्हीं

दूसरा भोज हुआ । चित्राङ्ग मौर्य्य ने भी थोड़े ही समय के अन्तर में चित्रकूट (चित्तौर) का पवित्र दुर्ग बनवाया, जो भारत के स्मारक-चिह्नों में एक अपूर्व वस्तु है ।

गुप्तवंशियों ने जब अवन्ती मौर्य्य लोगों से ले ली, उसके बाद वीर मौर्य्यों के उद्योग से कई नगरी बसाई गईं और कितनी ही उन लोगों ने दूसरे राजाओं से ले लीं । अर्बुदगिरि के प्राचीन भूभाग पर उन्हीं का अधिकार था । उस समय राजस्थान के सब अच्छे-अच्छे नगर प्रायः मौर्य्य-राजगण के अधिकार में थे । विक्रमीय संवत् ७८० तक मौर्य्यों की प्रतिष्ठा राजस्थान में थी और उस अंतिम प्रतिष्ठा को तो भारतवासी कभी न भूलेंगे जो चित्तौरपति मौर्य्य-नरनाथ मान-सिंह ने खलीफा वलीद को राजस्थान से विताड़ित करके प्राप्त की थी।

मानमौर्य्य के बनवाये हुए मानसरोवर में एक शिलालेख है, जिसमें लिखा है कि—"महेश्वर को भोज नाम का पुत्र हुआ था, जो धारा और मालव का अधीश्वर था, उसी से मानमौर्य्य हुए ।" इतिहास में ७८४ संवत् में बाप्पारावल का चित्तोर अधिकार करना लिखा है तो इसमें संदेह नहीं रह जाता कि यही मानमौर्य बाप्पारावल के द्वारा प्रवञ्चित हुआ ।

महाराज मान प्रसिद्ध बाप्पादित्य के मातुल थे । बाप्पादित्य ने नागेन्द्र से भागकर मानमौर्य के यहाँ आश्रय लिया, उनके यहाँ सामन्त

से लिया जाने लगा हो, क्योंकि मौर्य्य लोग बौद्ध-प्रेम के कारण अधिक कुख्यात हो चुके थे। बौद्ध-विद्वेष के कारण अशोक के वंश को अक्षत्रिय तथा नीच कुल का प्रमाणित करने के लिये मध्य-काल में अधिक उत्सुकता देखी जाती है, किन्तु यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि प्रसिद्ध परमार-कुल और मौर्य्य-वंश परस्पर सम्बद्ध हैं।

इस प्रकार अज्ञात पिप्पली-कानन के एक कोने से निकल कर विक्रम-संवत् के २६४ वर्ष पहले से ७८४ वर्ष बाद तक मौर्य लोगों ने पाटलीपुत्र, उज्जैन, धारा, महेश्वर, चित्तौर (चित्रकूट) और अर्बुदगिरि आदि में अलग-अलग अपनी राजधानियाँ स्थापित कीं और लगभग १०५० वर्ष तक वे लोग मौर्य्य नरपति कह कर पुकारे गये।

पिप्पली-कानन के मौर्य्य

मौर्य्य-कुल का सब से प्राचीन स्थान पिप्पली-कानन था। चन्द्रगुप्त के आदिपुरुष मौर्य्य इसी स्थान के अधिपति थे और यह राजवंश गौतमबुद्ध के समय में प्रतिष्ठित गिना जाता था, क्योंकि बौद्धों ने महात्मा बुद्ध के शरीर-भस्म का एक भाग पाने वालों में पिप्पली-कानन के मौर्यों का उल्लेख किया है। पिप्पली-कानन बस्ती जिले में नेपाल की सीमा पर है। वहाँ दूह और स्तूप हैं, इसे अब पिपरहियाकोट कहते हैं। फाहियान ने स्तूप आदि देखकर भ्रमवश इसी को पहले कपिल-वस्तु समझा था। मि० पीपी ने इसी स्थान को पहले खुदवाया और बुद्ध देव की धातु तथा और जो वस्तुयें मिलीं, उन्हें गवर्नमेंट को अर्पित किया था तथा धातु का प्रधान अंश सरकार ने स्याम के राजा को दिया।

इसी पिप्पली-कानन में मौर्य्य लोग अपना छोटा-सा राज्य स्वतन्त्रता से संचालित करते थे, और वे क्षत्रिय थे, जैसा कि महावंश के इस अवतरण से सिद्ध होता है "मोरियानं खतियानं वंसजात सिरीधर। चंदगुत्तो सिपंडजतं चाणक्को ब्रह्मणोततो" हिन्दू नाटककार विशाखदत्त ने चंद्रगुप्त को प्रायः वृषल कहकर सम्बोधित कराया है, इससे उक्त हिन्दू-काल की मनोवृत्ति ही ध्वनित होती है। वस्तुतः वृषल शब्द से तो उनका क्षत्रियत्व और भी प्रमाणित होता है, क्योंकि—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणानामदर्शनात्।

से यही मालूम होता है कि जो क्षत्रिय लोग वैदिक क्रियाओं से उदासीन हो जाते थे, उन्हें धार्मिक दृष्टि से वृषलत्व प्राप्त होता था। वस्तुतः वे जाति से क्षत्रिय थे। स्वयं अशोक मौर्य्य अपने को क्षत्रिय कहता था।

यह प्रवाद भी अधिकता से प्रचलित है कि मौर्य्य-वंश मुरा नाम की शूद्रा से चला है और चंद्रगुप्त उसका पुत्र था। यह भी कहा जाता है कि चंद्रगुप्त मौर्य्य शूद्रा मुरा से उत्पन्न हुआ नन्द ही का पुत्र था। किन्तु V. A. Smith लिखते हैं "But it is perhaps more probable that the dynasties of Mouryas and Nandas were not connected by blood."

तात्पर्य कि—यह अधिक संभव है कि नन्दों और मौर्य्यों का कोई रक्त-सम्बन्ध न था "Maxmuller भी लिखते हैं—The statement of Wilford that mourya meant in Sanskrit the offspring of a barber and Sudra woman has never been proved.

मुरा शूद्रा तक ही न रही, एक नापित भी आ गया। मौर्य्य शब्द
व्याख्या करने जाकर कैसा भ्रम फैलाया गया है। मुरा से मौर और
ोरेय बन सकता है, न कि मौर्य्य। कुछ लोगों का अनुमान है कि शुद्ध
ब्द मोरिय है, उससे संस्कृत शब्द मौर्य्य बना है, परन्तु, यह बात
ीक नहीं, क्योंकि अशोक के कुछ ही समय बाद के पतञ्जलि ने स्पष्ट
ौर्य्य शब्द का उल्लेख किया है—"मौर्य्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः"
(भाष्य ५-३-९९) इसलिये मौर्य्य शब्द अपने शुद्ध रूप में संस्कृत का
है न कि कहीं से लेकर संस्कार किया गया है। तब यह तो स्पष्ट है कि
मौर्य्य शब्द अपनी संस्कृत-व्युत्पत्ति के द्वारा मुरा का पुत्र वाला अर्थ
नहीं प्रकट करता। यह वास्तव में कपोल-कल्पना है, और यह भ्रम
यूनानी लेखकों से प्रचारित किया गया है, जैसा कि ऊपर दिखाया जा
चुका है। अर्थ-कथा में मौर्य्य शब्द की एक और व्याख्या मिलती है।
शाक्य लोगों में आपस में बुद्ध के जीवन-काल में ही एक झगड़ा हुआ
और कुछ लोग हिमवान् के पिप्पली-कानन-प्रदेश में अपना नगर
बसाकर रहने लगे। उस नगर के सुन्दर घरों पर क्रौञ्च और मोर
पक्षी के चित्र अङ्कित थे, इसलिये वहाँ के शाक्य लोग मोरिय कहलाये।
कुछ सिक्के बिहार में ऐसे भी मिले हैं, जिनपर मयूर का चिह्न अङ्कित
है। इससे अनुमान किया जाता है कि वे मौर्य्य-काल के सिक्के हैं
किन्तु इससे भी उनके क्षत्रिय होने का प्रमाण ही मिलता है।

हिन्दी 'मुद्राराक्षस' की भूमिका में भारतेन्दुजी लिखते हैं कि—
"महानन्द जो कि नन्दवंश का था, उससे नौ पुत्र उत्पन्न हुए। बड़ी
रानी से आठ और मुरा नाम्नी नापित-कन्या से नवाँ चन्द्रगुप्त।

महानन्द से और उसके मन्त्री शकटार से वैमनस्य हो गया, इस कारण मन्त्री ने चाणक्य-द्वारा महानन्द को मरवा डाला और चन्द्रगुप्त को चाणक्य ने राज्य पर बिठाया, जिसकी कथा 'मुद्राराक्षस' में प्रसिद्ध है।"—किन्तु यह भूमिका जिसके आधार पर लिखी हुई है, वह मूल संस्कृत मुद्राराक्षस के टीकाकार का लिखा हुआ उपोद्घात है। भारतेन्दुजी ने उसे भी अविकल ठीक न मानकर 'कथा-सरित्सागर' के आधार पर उसका बहुत-सा संशोधन किया है। कहीं-कहीं उन्होंने कई कथाओं का उलट-फेर भी कर दिया है। जैसे हिरण्यगुप्त के रहस्य के बतलाने पर राजा के फिर शकटार से प्रसन्न होने की जगह विचक्षणा के उत्तर से प्रसन्न होकर शकटार को छोड़ देना तथा चाणक्य के द्वारा अभिचार से मारे जाने की जगह महानन्द का विचक्षणा के दिए हुए विष से मारा जाना इत्यादि।

ढुंढि लिखते हैं कि—"कलि के आदि में नन्द नाम का एक राज-वंश था। उसमें सर्वार्थसिद्धि मुख्य था। उसकी दो रानियाँ थीं—एक सुनन्दा, दूसरी वृषला मुरा। सुनन्दा को एक मांसपिंड और मुरा को मौर्य्य उत्पन्न हुआ। मौर्य्य से सौ पुत्र उत्पन्न हुए। मंत्री राक्षस ने उस मांसपिण्ड को जल में नौ टुकड़े कर के रक्खा, जिससे नौ पुत्र हुए। सर्वार्थसिद्धि अपने उन नौ लड़कों को राज्य देकर तपस्या करने चला गया। उन नौ नन्दों ने मौर्य्य और उसके लड़कों को मार डाला। केवल एक चन्द्रगुप्त प्राण बचाकर भागा, जो चाणक्य की सहायता से नन्दों का नाश कर के, मगध का राजा बना।"

कथा-सरित्सागर के कथापीठ लम्बक में चंद्रगुप्त के विषय में एक

विचित्र कथा है। उसमें लिखा है कि—"नन्द के मर जाने पर इन्द्र-दत्त (जो कि उसके पास गुरु-दक्षिणा के लिए द्रव्य माँगने गया था)—ने अपनी आत्मा को योग-बल से राजा के शरीर में डाला, और आप राज्य करने लगा। जब उसने अपने साथी वररुचि को एक करोड़ रुपया देने के लिए कहा, तब मंत्री शकटार ने, जिसको राजा के मर कर फिर से जी उठने पर पहिले ही से शंका थी, विरोध किया। तब उस योगनन्द राजा ने चिढ़कर उसको कैद कर लिया और वररुचि को अपना मंत्री बनाया। योगनन्द बहुत विलासी हुआ, उसने सब राज्य-भार मन्त्री पर छोड़ दिया। उसकी ऐसी दशा देखकर वररुचि ने शकटार को छुड़ाया और दोनों मिलकर राज्य-कार्य्य करने लगे। एक दिन योगनन्द की रानी के चित्र में उसकी जाँघ पर एक तिल बना देने से राजा ने वररुचि पर शंका कर के शकटार को उसके मार डालने की आज्ञा दी। पर शकटार ने अपने उपकारी को छिपा रक्खा

योगनन्द के पुत्र हिरण्यगुप्त ने जंगल में अपने मित्र रीछ से विश्वासघात किया। इससे वह पागल और गूँगा हो गया। राजा ने कहा—"यदि वररुचि होता तो इसका कुछ उपाय करता।" अनुकूल समय देख कर शकटार ने वररुचि को प्रकट किया। वररुचि ने हिरण्यगुप्त का सब रहस्य सुनाया और उसे नीरोग किया। इस पर योगनन्द ने पूछा कि तुम्हें यह बात कैसे ज्ञात हुई? वररुचि ने उत्तर दिया—"योगबल से; जैसे रानी की जाँघ का तिल।" राजा उस पर बहुत प्रसन्न हुआ, पर वह फिर न ठहरा और जंगल में चला गया। शकटार ने समय ठीक देखकर चाणक्य-द्वारा योगनन्द को मरवा

"महानन्द को मार कर चन्द्रगुप्त ने राज्य किया।" पर ऊपर लिखी हुई वंशावली से यह प्रकट हो जाता है कि महानन्द के बाद १०० वर्ष तक महापद्म और उसके लड़कों ने राज्य किया। तब चन्द्रगुप्त की कितनी आयु मानी जाय कि महानन्द के बाद महापद्मादि के १०० वर्ष राज्य कर लेने पर भी उसने २४ वर्ष शासन किया?

यह एक विलक्षण बात होगी यदि "नन्दान्तं क्षत्रियकुलम्" के अनुसार शूद्राजात महापद्म और उसके लड़के तो क्षत्रिय मान लिये जायँ और—"अतः परं शूद्राः पृथिवीं भोक्ष्यन्ति" के अनुसार शूद्रता चन्द्रगुप्त से आरम्भ की जाय। महानन्द को जब शूद्रा से एक ही लड़का महापद्म था, तब दूसरा चंद्रगुप्त कहाँ से आया? पुराणों में चंद्रगुप्त को कहीं भी महानन्द का पुत्र नहीं लिखा है। यदि सचमुच अन्तिम नन्द ही का नाम ग्रीकों ने Zandrames रक्खा था, तो अवश्य ही हम कहेंगे कि विष्णु-पुराण की महापद्म वाली कथा ठीक ग्रीकों से मिल जाती है।

यह अनुमान होता है कि महापद्मवाली कथा, पीछे से बौद्धद्वेषी लोगों के द्वारा चन्द्रगुप्त की कथा में जोड़ी गयी है, क्योंकि उसी का पौत्र अशोक बुद्ध-धर्म का प्रधान प्रचारक था।

ढुण्ढि के उपोद्घात से एक बात का और पता लगता है कि चन्द्रगुप्त महानन्द का पुत्र नहीं, किन्तु मौर्य सेनापति का पुत्र था। महापद्मादि शूद्रागर्भोद्भव होने पर भी नन्दवंशी कहाये, तब चन्द्रगुप्त मुरा के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण नन्दवंशी होने से क्यों वंचित किया जाता है? इसलिये मानना पड़ेगा कि नन्दवंश और मौर्य्यवंश

भिन्न है। मौर्यवंश अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, जिसका उल्लेख पुराण, बृहत्कथा कामन्दक इत्यादि में मिलता है और पिछले काल के चित्तौर आदि के शिलालेखों में भी इसका उल्लेख है। इसी मौर्य-वंश में चन्द्रगुप्त उत्पन्न हुआ।

चन्द्रगुप्त का बाल्य-जीवन

अर्थकथा, स्थविरावली, कथासरित्सागर और ढुण्ढि के आधार पर चन्द्रगुप्त के जीवन की प्राथमिक घटनाओं का पता चलता है।

मगध की राजधानी पाटलीपुत्र, शोण और गङ्गा के संगम पर थी। राजमन्दिर, दुर्ग, लम्बी-चौड़ी पण्य-वीथिका, प्रशस्त राजमार्ग इत्यादि राजधानी में किसी उपयोगी वस्तु का अभाव न था। खाँई, सेना, रणतरी इत्यादि से वह सुरक्षित भी थी। उस समय महापद्म का वहाँ राज्य था।

पुराण में वर्णित अखिल क्षत्रिय-निधनकारी महापद्म नन्द या काल अशोक के लड़कों में सबसे बड़ा पुत्र एक नीच स्त्री से उत्पन्न हुआ था, जो मगध छोड़कर किसी अन्य प्रदेश में रहता था। उस समय किसी डाकू से उससे भेंट हो गई और वह अपने अपमान का प्रतिशोध लेने के लिये उन्हीं डाकुओं के दल में मिल गया। जब उनका सरदार एक चढ़ाई में मारा गया तो वही राजकुमार उन सबों का नेता बन गया और उसने पाटलीपुत्र पर चढ़ाई की। उग्रसेन के नाम से उसने थोड़े दिनों के लिये पाटलीपुत्र का अधिकार छीन लिया, इसके बाद उसके आठ भाइयों ने कई वर्ष तक राज्य किया।

नवें नन्द का नाम धननन्द था। उसने गङ्गा के घाट बनवाये और उसके प्रवाह को कुछ दिन के लिये हटाकर उसी जगह अपना

भारी खजाना गाड़ दिया। उसे लोग धननन्द कहने लगे। धननन्द के अन्नक्षेत्र में एक दिन तक्षशिला-निवासी चाणक्य ब्राह्मण आया और सब से उच्च आसन पर बैठ गया, जिसे देखकर धननन्द चिढ़ गया और उसे अपमानित करके निकाल दिया। चाणक्य ने धननन्द का नाश करने की प्रतिज्ञा की।

कहते हैं कि जब नन्द बहुत विलासी हुआ तो उसकी क्रूरता और भी बढ़ गई—प्राचीन मंत्री शकटार को बंदी करके उसने वररुचि नामक ब्राह्मण को अपना मंत्री बनाया। मगध-निवासी उपवर्ष के दो शिष्य थे, जिनमें से पाणिनि तक्षशिला में विद्याभ्यास करने गया था, किन्तु वररुचि, जिसकी राक्षस से मैत्री थी, नन्द का मंत्री बना। शकटार जब बन्दी हुआ तब वररुचि ने उसे छुड़ाया, और एक दिन वही दशा मंत्री वररुचि की भी हुई। इनका नाम कात्यायन भी था। बौद्ध लोग इन्हें 'मगधदेशीय ब्रह्मबंधु' लिखते हैं और पाणिनि के सूत्रों के यही वार्त्तिककार कात्यायन हैं। (कितने लोगों का मत है कि कात्यायन और वररुचि भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।)

शकटार ने अपने बैर का समय पाया और वह विष-प्रयोग-द्वारा तथा एक दूसरे को लड़ाकर नन्दों में आंतरिक द्वेष फैलाकर एक के बाद दूसरे को राजा बनाने लगा। धीरे-धीरे नन्दवंश का नाश हुआ, और केवल अन्तिम नन्द बचा। उसने सावधानी से अपना राज्य सँभाला और वररुचि को फिर मंत्री बनाया। शकटार ने प्रसिद्ध चाणक्य को, जो कि नीति-शास्त्र-विशारद होकर गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश करने के लिये राजधानी में आया था, नन्द का विरोधी बना

दिया। वह क्रुद्ध ब्राह्मण अपनी प्रतिहिंसा पूरी करने के लिये सहायक ढूँढ़ने लगा।

पाटलीपुत्र के नगर-प्रांत में पिप्पली-कानन के मौर्य-सेनापति का एक विभव-हीन गृह था। महापद्म नन्द के और उसके पुत्रों के अत्याचार से मगध काँप रहा था। मौर्य-सेनापति के वन्दी हो जाने के कारण उनके कुटुम्ब का जीवन किसी प्रकार कष्ट से बीत रहा था।

एक बालक उसी घर के सामने खेल रहा था। कई लड़के उसकी प्रजा बने थे, और वह था उनका राजा। उन्हीं लड़कों में से वह किसी को घोड़ा और किसी को हाथी बनाकर चढ़ता और दण्ड तथा पुरस्कार आदि देने का राजकीय अभिनय कर रहा था। उसी ओर से चाणक्य जा रहे थे। उन्होंने उस बालक की राजक्रीड़ा बड़े ध्यान से देखी। उनके मन में कुतूहल हुआ और कुछ विनोद भी। उन्होंने ठीक-ठीक ब्राह्मण की तरह उस बालक राजा के पास जाकर याचना की—"राजन्, मुझे दूध पीने के लिये गऊ चाहिये।"—बालक ने राजोचित उदारता का अभिनय करते हुए सामने चरती हुई गौओं को दिखलाकर कहा—"इनमें से जितनी इच्छा हो, तुम ले लो।"

ब्राह्मण ने हँसकर कहा—राजन्, ये जिसकी गायें हैं, वह मारने लगे तो?

बालक ने सगर्व छाती फुलाकर कहा—किसका साहस है जो मेरे शासन को न माने? जब मैं राजा हूँ, तब मेरी आज्ञा अवश्य मानी जायगी।

ब्राह्मण ने आश्चर्यपूर्वक बालक से पूछा—राजन्, आपका शुभ

नाम क्या है ?

तब तक बालक की माँ वहाँ आ गई, और ब्राह्मण से हाथ जोड़कर बोली—महाराज, यह बड़ा धृष्ट लड़का है, इसके किसी अपराध पर ध्यान न दीजियेगा।

चाणक्य ने कहा—कोई चिन्ता नहीं, यह बड़ा होनहार बालक है। इसकी मानसिक उन्नति के लिये तुम इसे किसी प्रकार राजकुल में भेजा करो।

उसकी मां रोने लगी। बोली—हम लोगों पर राजकोप है, और हमारे पति राजा की आज्ञा से बंदी किये गये हैं।

ब्राह्मण ने कहा—बालक का कुछ अनिष्ट न होगा, तुम इसे अवश्य राजकुल में ले जाओ।

इतना कह, बालक को आशीर्वाद देकर चाणक्य चले गये।

बालक की माँ बहुत डरते-डरते एक दिन, अपने चंचल और साहसी लड़के को लेकर राजसभा मे पहुँची।

नन्द एक निष्ठुर, मूर्ख और त्रासजनक राजा था। उसकी राजसभा बड़े-बड़े चापलूस मूर्खों से भरी रहती थी।

पहले के राजा लोग एक दूसरे के बल, बुद्धि और वैभव की परीक्षा लिया करते थे और इसके लिये वे तरह-तरह के उपाय रचते थे। जब बालक माँ के साथ राजसभा में पहुँचा, उसी समय किसी राजा के यहाँ से नन्द की राजसभा की बुद्धि का अनुमान करने के लिये, लोहे के बन्द पिंजड़े में मोम का सिंह बनाकर भेजा गया था और उसके साथ

यह कहलाया गया था कि पिंजड़े को खोले बिना ही सिंह को निकाल लीजिये।

सारी राजसभा इसपर विचार करने लगी; पर उन चाटुकार मूर्ख सभासदों को कोई उपाय न सूझा। अपनी माता के साथ वह बालक यह लीला देख रहा था। वह भला कब मानने वाला! उसने कहा—"मैं निकाल दूँगा।"

सब लोग हँस पड़े। बालक की ढिटाई भी कम न थी। राजा नन्द को भी आश्चर्य हुआ।

नन्द ने कहा—यह कौन है?

मालूम हुआ कि राजवन्दी मौर्य-सेनापति का यह लड़का है। फिर क्या, नन्द की मूर्खता की अग्नि में एक और आहुति पड़ी। क्रोधित होकर वह बोला—यदि तू इसे न निकाल सकेगा, तो तू भी इस पिंजड़े में बन्द कर दिया जायगा।

उसकी माता ने देखा कि यह भी कहां से विपत्ति आई; परन्तु बालक निर्भीकता से आगे बढ़ा और पिंजड़े के पास जाकर उसको भलीभांति देखा। फिर लोहे की शलाकाओं को गरम करके उस सिंह को गलाकर पिंजड़े को खाली कर दिया।[१]

सब लोग चकित रह गये।

---

१ "मधूच्छिष्टमयं धातु जीवन्तमिव पञ्जरे। सिंहमादाय नन्देभ्यः प्राहिणोत्सिंहलाधिपः। यो द्रावयेदिमं क्रूरं द्वारमनुद्घाट्य पंजरं। सोऽस्ति कश्चित्सुमतिरित्येवं संदिदेश च। चंद्रगुप्तस्तु मेधावी तप्तायसशलाकया। व्यलापयत्पञ्जरस्थं व्यस्मयन्त ततोऽखिलाः"

राजकुल में भी नित्य नये उपद्रव, विरोध और द्वन्द्व मचा करते थे, उन्हीं कारणों से चन्द्रगुप्त की भी कोई स्वतन्त्र परिस्थिति उसे भावी नियति की ओर अग्रसर कर रही थी। चाणक्य की प्रेरणा से चन्द्रगुप्त ने सीमाप्रान्त की ओर प्रस्थान किया।

महावंश के अनुसार बुद्ध-निर्वाण के १४० वर्ष बाद अभिज्ञ नन्द को राज्य मिला, जिसने २२ वर्ष राज्य किया। इसके बाद चंद्रगुप्त को राज्य मिला। यदि बुद्ध का निर्वाण ५४३ ई० पूर्व में मान लिया जाय तो उसमें से नन्दराज्य तक का समय १६२ घटा देने से ३८१ ई० पूर्व में चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की तिथि मानी जायगी। पर यह सर्वथा भ्रमात्मक है, क्योंकि ग्रीक इतिहास-लेखकों ने लिखा है कि—"तक्षशिला में जब ३२६ ई० पूर्व में सिकन्दर से चंद्रगुप्त ने भेंट किया था तब वह युवक राजकुमार था। अस्तु, यदि हम उसकी अवस्था उस समय २० वर्ष के लगभग मान लें, जो कि असंगत न होगी, तो उसका जन्म-समय ३४६ ई० पूर्व के लगभग हुआ होगा। मगध के राजविद्रोह-काल में वह १९ या २० वर्ष का रहा होगा।"

मगध से चंद्रगुप्त के निकलने की तिथि ई० पूर्व ३२७ या ३२८ निर्धारित की जा सकती है, क्योंकि ३२६ में तो वह सिकंदर से तक्षशिला में मिला ही था। उसके प्रवास की कथा बड़ी रोचक है। सिकंदर जिस समय भारतवर्ष में पदार्पण कर रहा था और भारतीय जनता के सर्वनाश का उपक्रम तक्षशिलाधीश्वर ने करना विचार लिया था—वह समय भारत के इतिहास में स्मरणीय है, तक्षशिला नगरी अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। जहाँ का विश्वविद्यालय पाणिनि और

जीवक ऐसे छात्रों का शिक्षक हो चुका था—वही तक्षशिला अपनी स्वतन्त्रता पद-दलित कराने की आकांक्षा में आकुल थी और उसका उपक्रम भी हो चुका था। कूटनीति-चतुर सिकंदर ने जैसा कि ग्रीक लोग कहते हैं, १००० टैलेंट (प्रायः ३८००००० अड़तीस लाख रुपया) देकर लोलुप देशद्रोही तक्षशिलाधीश को अपना मित्र बनाया। उसने प्रसन्न मन से अपनी कायरता का मार्ग खोल दिया और बिना बाधा सिकंदर को भारत में आने दिया। ग्रीक ग्रंथकारों के द्वारा हम यह पता पाते हैं कि (ई० पूर्व ३२६ में) उसी समय चंद्रगुप्त शत्रुओं से बदला लेने के उद्योग में अनेक प्रकार का कष्ट, मार्ग में झेलते-झेलते भारत की अर्गला तक्षशिला नगरी में पहुँचा था। तक्षशिला के राजा ने भी महाराज पुरु से अपना बदला लेने के लिये सिकंदर के लिये भारत का द्वार मुक्त कर दिया था। उन्हीं ग्रीक ग्रंथकारों के द्वारा यह पता चलता है कि चंद्रगुप्त ने एक सम्राट भी अपने को परमुखापेक्षी नहीं बना रक्खा और वह क्रुद्ध होकर वहाँ से चला आया। Justinus लिखता है कि उसने अपनी असहनशीलता के कारण सिकंदर को असन्तुष्ट किया। वह सिकंदर का पूरा विरोधी बन गया।

For having offended Alexander by his impertinent language he was ordered to be put to death, and escaped only by flight.

(JUSTINUS)

In history of A. S. literature.

सिकन्दर और चन्द्रगुप्त पंजाब में

सिकन्दर ने तक्षशिलाधीश की सहायता से जेहलम को पार करके पोरस के साथ युद्ध किया। उस युद्ध में क्षत्रिय महाराज (पर्वतेश्वर) पुरु किस तरह लड़े और वह कैसा भयङ्कर युद्ध हुआ, यह केवल इससे ज्ञात होता है कि स्वयं जगद्विजयी सिकन्दर को कहना पड़ा—"आज हमको अपनी बराबरी का भीमपराक्रम शत्रु मिला और यूनानियों को तुल्य-बल से आज ही युद्ध करना पड़ा।" इतना ही नहीं, सिकन्दर का प्रसिद्ध अश्व 'बूक फेलस' इसी युद्ध में हत हुआ और सिकन्दर भी स्वयं आहत हुआ।

यह अनिश्चित है कि सिकन्दर को मगध पर आक्रमण करने को उत्तेजित करने के लिये ही चन्द्रगुप्त उसके पास गया था, अथवा ग्रीक-युद्ध की शिक्षा-पद्धति सीखने के लिये वहाँ गया था। उसने सिकन्दर से तक्षशिला में अवश्य भेंट की। यद्यपि उसका कोई कार्य वहाँ नहीं हुआ, पर उसे ग्रीकवाहिनी-रणचर्या अवश्य ज्ञात हुई, जिससे कि उसने पार्वतीय सेना से मगध-राज्य का ध्वंस किया।

क्रमशः वितस्ता, चन्द्रभागा, इरावती के प्रदेशों को विजय करता हुआ सिकन्दर विपाशा-तट तक आया और फिर मगध-राज्य का प्रचण्ड प्रताप सुन कर उसने दिग्विजय की इच्छा को त्याग दिया और ३२५ ई० पू० में फिलिप नामक पुरुष को क्षत्रप बना कर आप काबुल की ओर गया। दो वर्ष के बीच में चन्द्रगुप्त भी उसी प्रान्त में घूमता रहा और जब वह सिकन्दर का विरोधी बन गया था तो उसी ने पार्वत्य जातियों को सिकन्दर से लड़ने के लिये उत्तेजित किया और

जिनके कारण सिकन्दर को इरावती से पाटल तक पहुँचने में दस मास समय लग गया और इस बीच में इन आक्रमणकारियों से सिकंदर की बहुत क्षति हुई। इस मार्ग में सिकंदर को मालव-जाति से युद्ध करने में बड़ी हानि उठानी पड़ी। एक दुर्ग के युद्ध में तो उसे ऐसा अस्त्राघात मिला कि वह महीनों तक कड़ी बीमारी झेलता रहा। जल-मार्ग से जानेवाले सिपाहियों को निश्चय हो गया था कि 'सिकंदर मर गया'। किसी-किसी का मत है कि सिकंदर की मृत्यु का कारण यही घाव था।

सिकंदर भारतवर्ष को लूटने आया, पर जाते समय उसकी यह अवस्था हुई कि अर्थाभाव से अपने सेक्रेटरी यूडोमिनिस से उसने कुछ द्रव्य माँगा और न पाने पर इसका कैम्प फुँकवा दिया। सिकन्दर के भारतवर्ष में रहने ही के समय में चंद्रगुप्त-द्वारा प्रचारित सिकंदर-द्रोह पूर्णरूप से फैल गया था और इसी समय कुछ पार्वत्य राजा चंद्रगुप्त के विशेष अनुगत हो गये थे। उनको रण-चतुर बनाकर चंद्रगुप्त ने एक अच्छी शिक्षित सेना प्रस्तुत कर ली थी और जिसकी परीक्षा प्रथमतः ग्रीक सैनिकों ने ली। इसी गड़बड़ में फिलिप मारा गया* और उस प्रदेश के लोग पूर्णरूप से स्वतंत्र बन गये। चंद्रगुप्त को पार्वतीय सैनिकों से बड़ी सहायता मिली और वे उसके मित्र बन गये। विदेशी शत्रुओं के साथ भारतवासियों का युद्ध देखकर चन्द्रगुप्त एक रण-चतुर नेता बन गया। धीरे-धीरे उसने सीमाप्रांती पार्वतीय

---

*सिकंदर के चले जाने पर इसी फिलिप ने षड्यंत्र करके पोरस को मरवा डाला; जिससे बिगड़ कर उसकी हत्या हुई।

लोगों को एक में मिला लिया। चन्द्रगुप्त और पर्वतेश्वर विजय के हिस्सेदार हुए और सम्मिलित शक्ति से मगध-राज्य विजय करने के लिये चल पड़े। अब यह देखना चाहिये कि चन्द्रगुप्त और चाणक्य की सहायक सेना में कौन-कौन देश की सेनायें थीं और वे कब पंजाब से चले।

बहुत से विद्वानों का मत है कि जो सेना चन्द्रगुप्त के साथ थी, वह ग्रीकों की थी। यह बात बिल्कुल असङ्गत नहीं प्रतीत होती; जब 'फिलिप' तक्षशिला के समीप मारा गया तो सम्भव है कि बिना सरदार की सेना में से किसी प्रकार पर्वतेश्वर ने कुछ ग्रीकों की सेना को अपनी ओर मिला लिया हो जो कि केवल धन की लालच से ग्रीस छोड़कर भारतभूमि तक आये थे। उसी सम्मिलित आक्रमणकारी सेना में कुछ ग्रीकों का होना असम्भव नहीं है, क्योंकि मुद्रा-राक्षस के टीकाकार ढुण्ढि लिखते हैं—

> "नन्दराज्यार्थपणनात्समुत्थाप्य महाबलम्।
> पर्वतेन्द्रो म्लेच्छबलं न्यरुन्धत्कुसुमं पुरम्॥

तैलङ्ग महाशय लिखते हैं कि "The Yavanas referred in our play Mudrarakshasa were probably some of frontier tribes" कुछ तो उस सम्मिलित सेना के नीचे लिखे हुए नाम हैं, जिन्हें कि महाशय तैलङ्ग ने लिखा है।

मुद्राराक्षस—	तैलङ्ग—
शक	सीदियन
यवन (ग्रीक ?)	अफगान

मुद्राराक्षस	तैलंग
किरात	सेवेज ट्राइब
पारसीक	परशियन
वाल्हीक	वैक्ट्रियन

इस सूची के देखने से ज्ञात होता है कि ये सब जातियाँ प्रायः भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा में स्थित हैं। इस सेना में उपर्युक्त जातियां प्रायः सम्मिलित रही हों तो असम्भव नहीं है। चन्द्रगुप्त ने असभ्य सेनाओं को ग्रीक-प्रणाली से शिक्षित करके उन्हें अपने कार्य-योग्य बनाया। मेरा अनुमान है कि यह घटना ३२३ ई० पू० में हुई, क्योंकि वही समय सिकन्दर के मरने का है। उसी समय यूडेमिस नामक ग्रीक कर्म्मचारी और तक्षशिलाधीश के कुचक्र से फिलिप के द्वारा पुरु (पर्वतेश्वर) की हत्या हुई थी। अस्तु, पंजाब प्रान्त एक प्रकार से अराजक हो गया और ३२२ ई० पू० में इन सबों को स्वतन्त्र बनाते हुए ३२१ ई० पू० में मगध-राजधानी पाटलीपुत्र को चन्द्रगुप्त ने जा घेरा।*

मगध में चन्द्रगुप्त

अपमानित चन्द्रगुप्त बदला लेने के लिये खड़ा था; मगध-राज्य

Justinus says:

*Sandrocottus gave liberty to India after Alexander's retreat but soon converted the name of liberty into servitude after his success, subjecting those whom he had rescued from foreign domination to his own authority

H. of A. S. Lit.

की दशा बड़ी शोचनीय थी। नन्द आन्तरिक विग्रह के कारण जर्जरित हो गया था, चाणक्य-चालित म्लेच्छ-सेना कुसुमपुर को चारों ओर से घेरे हुई थी। चन्द्रगुप्त अपनी शिक्षित सेना को बराबर उत्साहित करता हुआ सुचतुर रण-सेनापति का कार्य करने लगा।

पन्द्रह दिन तक कुसुमपुर को बराबर घेरे रहने के कारण और बार-बार खण्ड युद्ध में विजयी होने के कारण चन्द्रगुप्त एक प्रकार से मगध-विजयी हो गया। नन्द ने, जो कि पूर्वकृत पापों से भीत और आतुर हो गया था, नगर से निकल कर चले जाने की आज्ञा माँगी। चन्द्रगुप्त इस बात से सहमत हो गया कि धननन्द अपने साथ जो कुछ ले जा सके ले जाय, पर चाणक्य की एक चाल यह भी थी, क्योंकि उसे मगध की प्रजा पर शासन करना था। इसलिये यदि धननन्द मारा जाता तो प्रजाओं के और विद्रोह करने की सम्भावना थी। इसमें स्थविरावली तथा ढुण्ढि के विवरण से मतभेद है, क्योंकि स्थविरावलीकार लिखते हैं कि "चाणक्य ने धननन्द को चले जाने की आज्ञा दी, पर ढुण्ढि कहते हैं, चाणक्य के द्वारा शस्त्र से धननन्द निहत हुआ। मुद्राराक्षस से जाना जाता है कि यह विष-प्रयोग से मारा गया। पर यह बात पहले नन्दों के लिये सम्भव प्रतीत होती है।* चाणक्य की नीति की ओर दृष्टि डालने से यही ज्ञात होता है

---

*However mysterious the nine Nandas may be, if indeed, they really were nine, there is no doubt that the last of them was deposed and slain by Chandragupta.

—V. A. Smith, E. H. of India.

कि जान-बूझकर नन्द को अवसर दिया गया, और इसके बाद किसी गुप्त प्रकार से उसकी हत्या हुई।

कई लोगों का मत है कि पर्वतेश्वर की हत्या बिना अपराध चाणक्य ने की। पर जहाँ तक सम्भव है, पर्वतेश्वर का कात्यायन के साथ मिला हुआ जानकर ही चाणक्य के द्वारा विषकन्या पर्वतेश्वर को मिली और यही मत भारतेन्दुजी का भी है। मुद्राराक्षस को देखने से यही ज्ञात भी होता है कि राक्षस पीछे पर्वतेश्वर के पुत्र मलयकेतु से मिल गया था। सम्भव है कि उसका पिता भी वररुचि की ओर पहले मिल गया हो और इसी बात को जान लेने पर चंद्रगुप्त की हानि की सम्भावना देख कर किसी उपाय से पर्वतेश्वर की हत्या हुई हो।

तात्कालिक स्फुट विवरणों से ज्ञात होता है कि मगध की प्रजा और सीमान्तवर्ती जातियाँ चंद्रगुप्त के प्रतिपक्ष में खड़ी हुईं, उस लड़ाई में भी अपनी कूटनीति के द्वारा चाणक्य ने आपस में भेद करा दिया। प्रबल उत्साह के कारण, अविराम परिश्रम और अध्यवसाय से, अपने बाहुबल और चाणक्य के बुद्धिबल से, सामान्य भू-स्वामी चंद्रगुप्त, मगध-साम्राज्य के सिंहासन पर बैठा।

बौद्धों की पहली सभा कालाशोक या महापद्म के समय में हुई। बुद्ध के ९० वर्ष बाद यह गद्दी पर बैठा और इसके राज्य के दस वर्ष बाद सभा हुई; इसके बाद इसने १८ वर्ष राज्य किया। यह ११८ वर्ष का समय, बुद्ध के निर्वाण से कालाशोक के राज्य-काल तक है। काला-शोक का पुत्र २२ वर्ष तक राज्य करता रहा, इसके बाद २२ वर्ष तक नन्द; इसके बाद चंद्रगुप्त ने राज्य लिया। (११८+२२+२२)

बुद्ध-निर्वाण के १६२ वर्ष बाद चंद्रगुप्त को राज्य मिला। बुद्ध का समय यदि ५४३ ई० पू० माना जाय, तब तो (५४३-१६२) = ३८१ ई०पू० में ही चंद्रगुप्त का राज्यारोहण निर्धारित होता है। दूसरा मत मेक्स-मूलर-आदि विद्वानों का है कि बुद्ध-निर्वाण ४७७ ई० पू० में हुआ। इस प्रकार उक्त राज्यारोहण का समय ३१५ ई० पू० निकलता है। इससे ग्रीक-समय का मिलान करने से एक तो ४० वर्ष बढ़ जाता है, दूसरा ५ या ६ वर्ष घट जाता है।

महावीर स्वामी के निर्वाण के १५५ वर्ष बाद, चन्द्रगुप्त, जैनियों के मत से, राज्य पर बैठा, ऐसा मालूम होता है। आर्य-विद्या-सुधाकर के अनुसार ४७० विक्रम पू० में महावीर स्वामी का वर्तमान होना पाया जाता है। इससे यदि ५२० ई० पू० में महावीर स्वामी का निर्वाण होना मान लें, तो उसमें से ११५ घटा देने से ३६५ ई० पू० में चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण का समय होता है जो सर्वथा असम्भव है। यह मत भी बहुत भ्रम-पूर्ण है।

पंडित रामचन्द्रजी शुक्ल ने मेगास्थनीज की भूमिका में लिखा है कि ३१६ ई० पू० में चन्द्रगुप्त गद्दी पर बैठा और २९२ ई० पू० तक उसने २४ वर्ष राज्य किया।

पंडितजी ने जो पाश्चात्य लेखकों के आधार पर चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण-समय लिखा है, वह भी भ्रम से रहित नहीं है, क्योंकि स्ट्राबो के मतानुसार २९६ में Deimachos का मिशन बिन्दुसार के समय में आया था। यदि २९२ तक चन्द्रगुप्त का राज्य-काल मान लिया जाय तो डिमाकस, चन्द्रगुप्त के राजत्व-काल ही में आया था, ऐसा प्रतीत ह

गया; क्योंकि शुबज़नी के मत में ३१६ ई० पू० से २६२ ई० पू० तक चन्द्रगुप्त का राजत्व-काल है, डिमाकस के मिशन का समय २६६ ई० पू० जिसके अन्तर्गत हो जाता है। यदि हम चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण ३२१ ई० पू० में मानें, तो उसमें से उसका राजत्व-काल २४ वर्ष घटा देने से २९७ ई० पू० तक उसका राजत्वकाल और २९६ ई० पू० में बिन्दुसार का राज्यारोहण और डिमाकस के मिशन का समय ठीक हो जाता है। ऐतिहासिकों का अनुमान है कि "२५ वर्ष की अवस्था में चन्द्रगुप्त गद्दी पर बैठा" यह भी ठीक हो जाता है। क्योंकि पूर्व-निर्धारित चन्द्रगुप्त के जन्म-समय ३४६ ई० पू० में २५ वर्ष घटा देने से भी ३२१ ई० पू० ही बचता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि चन्द्रगुप्त पाटलीपुत्र में मगध-राज्य के सिंहासन पर ३२१ ई० पू० में आसीन हुआ।

विजय

उस समय गंगा के तट पर दो विस्तृत राज्य थे, जैसा कि मेगास्थनीज लिखता है, एक प्रास्य (Prassi) और दूसरा गंगरिडीज (Gangarideas)। प्रास्य राज्य में अवन्ती, कोशल, मगध, वाराणसी, विहार आदि देश थे और दूसरा गंगरिडीज गंगा के उस भाग के तट पर था, जो कि समुद्र के समीप में था। वह बंगाल था। गंगरिडीज और गौड़ एक ही देश का नाम प्रतीत होता है। गौड़ [illegible] का भाग, मगध के पश्चिम था। [illegible] में भी एक छोटा प्रदेश की राजधानी थी, वह भी नन्दाधीन थी। [illegible] के विरुद्ध में [illegible]

होता है कि ताम्रलिप्ति* जिसे अब तामलूक कहते हैं, मिदनापुर जिले में उस समय समुद्र-तट पर अवस्थित गङ्गरिडीज़ के प्रसिद्ध नगरों में था।

प्राच्य देश की राजधानी पालीबोथा थी, जिसे पाटलीपुत्र कहना असंगत न होगा। मेगास्थनीज लिखता है, कि गंगरिडीज़ की राजधानी पर्थिलीस थी। डाक्टर श्वानबक का मत है कि सम्भवतः यह वर्धमान ही था, जिसे ग्रीक लोग पर्थलिस कहते थे। इसमें विवाद करने का अवसर नहीं है, क्योंकि वर्धमान गौड़ देश के प्राचीन नगरों में है और यह राजधानी के योग्य भूमि पर बसा हुआ है।

केवल नन्द को ही पराजित करने से, चन्द्रगुप्त को एक बड़ा विस्तृत राज्य मिला, जो कि आसाम से लेकर भारत के मध्यप्रदेश तक व्याप्त था।

अशोक के जीवनीकार लिखते हैं, कि अशोक का राज्य चार प्रादेशिक शासकों से शासित होता था। तक्षशिला, पंजाब और अफगानिस्तान की राजधानी थी; टोसाली कलिङ्ग की, अवन्ती मध्यप्रदेश की और स्वर्णगिरि—भारतवर्ष के दक्षिण भाग की राज-

---

* अस्तीह नगरी लोके ताम्रलिप्तीति विश्रुता। ततः स तद्विता तेन तनयेन समं ययौ। द्वीपान्तरं स्नुपाहेतो वाणिज्यव्यपदेशतः ६८।

(कथापीठ लम्बक ५ तरङ्ग)

इससे ज्ञात होता है, कि ताम्रलिप्ति समुद्रतट पर अवस्थित थी, जहाँ से द्वीपान्तर जाने में लोगों को सुविधा होती थी।

धानी थी।* अशोक की जीवनी से ज्ञात होता है कि उसने केवल कलिंग ही विजय किया था। बिन्दुसार के विजयों की गाथा कहीं भी नहीं मिलती। मि० स्मिथ ने लिखा है कि It is more Probable that the conquest of the south was the work of Bindusar, परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है।

प्रायद्वीप खंड को जीतकर चन्द्रगुप्त ने स्वर्णगिरि में उसका शासक रक्खा और सम्भवतः यह घटना उस समय की है, जब विजेता सिल्यूकस एक विशाल साम्राज्य की नींव सीरिया-प्रदेश में डाल रहा था। यह घटना ३१६ ई० पू० में हुई।

इस समय चन्द्रगुप्त का शासन भारतवर्ष में प्रधान था और छोटे छोटे राज्य यद्यपि स्वतन्त्र थे; पर वे भी चन्द्रगुप्त के शासन से सदा भयभीत होकर मित्र-भाव का बर्ताव रखते थे। उसका राज्य पांडु-नेर और कनानूर से हिमालय की तराई तक तथा गान्धार से आसाम तक था। केवल कुछ राज्य दक्षिण में; जैसे—केरल इत्यादि और पंजाब में वे प्रदेश, जिन्हें सिकन्दर ने विजय किया था, स्वतंत्र थे; किन्तु चंद्रगुप्त पर ईश्वर की अपार कृपा थी, जिसने उसे ऐसा सुयोग [illegible] कि वह भी [illegible] विदेशों में अपना आतङ्क [illegible]।

सिकन्दर के मर जाने के बाद ग्रीक लोगों में बड़ी [illegible] मची। ई० पू० ३२३ में सिकन्दर मरा। उसके [illegible] पर्डिकस शासन करने लगा; किन्तु [illegible] हुआ, तब [illegible] और प्रधान

*Vincent A. Smith. Life Of Ashoka

कर्मचारियों ने मिलकर एक सभा की। ई० पू० ३२१ में सभा हुई और सिल्यूकस बैबीलोन की गद्दी पर बैठाया गया। टालमी आदि मिश्र के राजा समझे जाने लगे; पर आंटिगोनस, जो कि पूर्वीय एशिया का क्षत्रप था, अपने बल को बढ़ाने लगा और इसी कारण सब जनरल उसके विरुद्ध हो गये, यहाँ तक कि ग्रीक-साम्राज्य से अलग होकर सिल्यूकस ने ३१२ ई० पू० में अपना स्वाधीन राज्य स्थापित किया। बहुत-सी लड़ाइयों के बाद सन्धि हुई और सीरिया इत्यादि प्रदेशों का आँटिगोनस स्वतंत्र राजा हुआ। थ्रेस के लिसिमाकस, मिस्र के टालेमी और बैबीलोन के समीप के प्रदेश में सिल्यूकस का आधिपत्य रहा। यह सन्धि ३१६ ई० पू० में हुई। सिल्यूकस ने उधर के विग्रहों को कुछ शान्त कर के भारत की ओर देखा।

इसे भी वह ग्रीक साम्राज्य का एक अंश समझता था। आराकोसिया, बैक्ट्रिया, जेडोसिया आदि विजय करते हुये उसने ३०६ ई० पू० में भारत पर आक्रमण किया। चन्द्रगुप्त उसी समय दिग्विजय करता हुआ पञ्जाब की ओर आ रहा था और उसने जब सुना कि ग्रीक लोग फिर भारत पर चढ़ाई कर रहे हैं, वह भी उन्हीं की ओर चल पड़ा। इस यात्रा में ग्रीक लोग लिखते हैं कि उसके पास ६००००० सैनिक थे, जिनमें ३०००० घोड़े और ९००० हाथी; बाकी पैदल थे।*
इतिहासों से पता चलता है कि सिंधुतट पर यह युद्ध हुआ।

---

*The same king (Chandragupta) traversed India with an army of 6,00,000 men and conquered the wh
(Plutarch in H. A. S. L

सिल्यूकस सिंधु के उस तीर पर आ गया, मौर्य्य-सम्राट् इस आक्रमण से अनभिज्ञ था। उसके प्रादेशिक शासक, जो कि उत्तर-पश्चिम प्रांत के थे, बराबर सिल्यूकस का गतिरोध करने के लिए प्रस्तुत रहते थे; पर अनेक उद्योग करने पर भी कपिशा आदि दुर्ग सिल्यूकस के हस्तगत हो ही गये। चन्द्रगुप्त, जो कि सतलज के समीप से उसी ओर बराबर बढ़ रहा था, सिल्यूकस की क्षुद्र विजयों से घबड़ा कर बहुत शीघ्रता से तक्षशिला की ओर चल पड़ा। चन्द्रगुप्त के बहुत थोड़े समय पहले ही सिल्यूकस सिन्धु के इस पार उतर आया और तक्षशिला के दुर्ग पर चढ़ाई करने के उद्योग में था। तक्षशिला की सूबेदारी बहुत बड़ी थी। उसे विजय कर लेना सहज कार्य्य न था। सिल्यूकस अपनी रक्षा के लिये मिट्टी की खाईं बनवाने लगा।

जगह उन्हें एकत्र करना पड़ा। चन्द्रगुप्त की विजय हुई। इसी समय ग्रीक जेनरलों में फिर खलबली मची हुई थी। इस कारण सिल्यूकस को शीघ्र उस ओर लौटना था। किसी ऐतिहासिक का मत है कि इसी से सिल्यूकस शीघ्र ही सन्धि कर लेने पर वाध्य हुआ। इस सन्धि में ग्रीक लोगों को चंद्रगुप्त और चाणक्य से सब ओर से दबना पड़ा।

इस सन्धि के समय में कुछ मतभेद है। किसी का मत है कि यह सन्धि ३०५ ई० पू० में हुई और कुछ लोग कहते हैं कि ३०३ ई० पू० में। सिल्यूकस ने जो ग्रीक-सन्धि की थी, वह ३११ ई० पू० में हुई, उसके बाद ही वह युद्ध-यात्रा के लिये चल पड़ा। अस्तु, आराकोसिया; जेड्रोसिया और वैक्ट्रिया आदि विजय करते हुए भारत तक आने में पाँच वर्ष से विशेष समय नहीं लग सकता और इसी से उस युद्ध का समय, जो कि चन्द्रगुप्त से उससे हुआ था, ३०६ ई० पू० माना गया। तब ३०५ ई० पू० सन्धि का होना ठीक-सा जँचता है सन्धि में चंद्रगुप्त भारतीय प्रदेशों के स्वामी हुए। अफगानिस्तान और मकराना भी चंद्रगुप्त को मिला और उसके साथ ही साथ कुल पञ्जाब और सौराष्ट्र पर चंद्रगुप्त का अधिकार हो गया। सिल्यूकस बहुत शीघ्र लौटने वाला था। ३०१ ई० पू० में होनेवाले युद्ध के लिये उसे तैयार होना था, जिसमें कि Ipsus के मैदान में उसने अपने चिरशत्रु ऑटिगोनस को मारा था। चन्द्रगुप्त को इस ग्रीक-विप्लव ने बहुत सहायता दी और उसने इसी कारण मनमाने नियमों से सन्धि करने के लिये सिल्यूकस को वाध्य किया।*

---

*हिरात, कन्दहार, काबुल, मकराना, भी भारत में और प्रदेशों

पाटल आदि बन्दर भी चन्द्रगुप्त के अधीन हुए तथा काबुल में सिल्यूकस की ओर से एक राजदूत का रहना स्थिर हुआ। मेगास्थनीज़† ही प्रथम राजदूत नियत हुआ। यह तो सब हुआ, पर नीति-चतुर सिल्यूकस ने एक और बुद्धिमानी का कार्य यह किया कि चंद्रगुप्त से अपनी सुन्दरी कन्या का पाणिग्रहण कर दिया, जिसे चंद्रगुप्त ने स्वीकार कर लिया और दोनों राज्य एक सम्बन्ध-सूत्र में बँध गये। जिस पर सन्तुष्ट होकर वीर चन्द्रगुप्त ने ५०० हाथियों की एक सेना सिल्यूकस को दी और अब चन्द्रगुप्त का राज्य भारतवर्ष में सर्वत्र हो गया। रुद्रदामा के लेख से ज्ञात होता है कि पुष्पगुप्त‡ उस प्रदेश का शासक नियत किया गया था जो सौराष्ट्र और सिन्ध तथा राजपूताना तक था। अब चन्द्रगुप्त के अधीन दो प्रादेशिक शासक और हुए, एक तक्षशिला में, दूसरा सौराष्ट्र में। इस तरह से अध्यवसाय का अवतार चन्द्रगुप्त प्रबल पराक्रान्त राजा माना जाने लगा और ग्रीस, मिसर, सीरिया इत्यादि के नरेश उसकी मित्रता से अपना गौरव समझते थे।

उत्तर में हिन्दूकुश, दक्षिण में पाँडुचेरी और कनानूर, पूर्व में आसाम और पश्चिम में सौराष्ट्र, समुद्र तथा वाल्हीक तक, चन्द्रगुप्त के राज्य की सीमा निर्धारित की जा सकती है।

के साथ सिल्यूकस ने चंद्रगुप्त को दे दिया। V. A. Smith. E. H. of India.

†मेगास्थनीज हिरात के क्षत्रप साइबर्टियस के पास रहा करता था।

‡पुष्पगुप्त ही ने उस पहाड़ी नदी का बाँध, महाराज चन्द्रगुप्त की आज्ञा से इसलिये बनाया कि खेती को बहुत लाभ होगा और उस बड़ी झील का नाम सुदर्शन रक्खा।

चन्द्रगुप्त का शासन

गङ्गा और शोण के तट पर मौर्य्य-राजधानी पाटलीपुत्र बसा था। दुर्ग—पत्थर, ईंट तथा लकड़ी के बने सुदृढ़ प्राचीर से परिवेष्टित था। नगर ८० स्टेडिया लम्बा और ३० स्टेडिया चौड़ा था। दुर्ग में ६४ द्वार तथा ५७० बुर्ज थे। सौध-श्रेणी, राजमार्ग, सुविस्तृत पण्य-वीथिका से नगर पूर्ण था और व्यापारियों की दूकानें अच्छे प्रकार से सुशोभित और सज्जित रहती थीं। भारतवर्ष की केन्द्र नगरी कुसुमपुरी वास्तव में कुसुम-पूर्ण रहती थी। सुसज्जित तुरङ्गों पर धनाढ्य लोग प्रायः राजमार्ग में यातायात किया करते थे। गङ्गा के कूल में बने हुए सुन्दर राजमन्दिर में चन्द्रगुप्त रहता था और केवल तीन कामों के लिये महल के बाहर आता—

पहिला, प्रजाओं का आवेदन सुनना, जिसके लिये प्रतिदिन एक बार चन्द्रगुप्त को विचारक का आसन ग्रहण करना पड़ता था। उस समय प्रायः तुरंग पर, जो आभूषणों से सजा हुआ रहता था, चन्द्रगुप्त आरोहण करता और प्रतिदिन न्याय से प्रजा का शासन करता था।

दूसरा, धर्म्मानुष्ठान बलिप्रदान करने के लिये, जो पर्व और उत्सव के उपलक्षों पर होते थे। मुक्तागुच्छ-शोभित कारु-कार्य्य-खचित शिविका पर (जो कि सम्भवतः खुली हुई होती थी) चन्द्रगुप्त आरोहण करता। इससे ज्ञात होता कि चन्द्रगुप्त वैदिक धर्मावलम्बी* था; क्योंकि

*मैसूर में मुद्रित अर्थशास्त्र चाणक्य ही का बनाया है और वह चन्द्रगुप्त के ही लिए बनाया गया है, यह एक प्रकार से सिद्ध हो चुका है। उसका उल्लेख प्रायः दशकुमारचरित, कादम्बरी तथा

का शुल्क-निर्धारण तथा निरीक्षण करता था। किसी शिल्पी के अंग-भंग करने से वही विभाग उन लोगों को दण्ड देता था। सम्भवतः यह विभाग म्युनिस्पैलिटी के बराबर था, जो कि पाँच सदस्यों से कार्य्य निर्वाह करता था।

द्वितीय विभाग विदेशियों के व्यवहार पर ध्यान रखता था। पीड़ित विदेशियों की सेवा करता था, उनके जाने के लिये वाहन आदि का आयोजन करना, उनके मरने पर उनकी सम्पत्ति की व्यवस्था करना और उन्हें जो हानि पहुँचावें उनको कठोर दंड से दंडित करना उनका कार्य्य था। इससे ज्ञात होता है कि व्यापार अथवा अन्य कार्य्यों के लिये बहुत से विदेशी कुसुमपुर में आया करते थे।

तृतीय विभाग प्रजाओं के मरण और जन्म की गणना करता था और उन पर कर निर्धारित करता था।

चतुर्थ विभाग व्यापार का निरीक्षण करता था और तुला तथा नाप का प्रबन्ध करता था।

पंचम विभाग राजकीय कोष का था, जहाँ द्रव्य बनाये जाते और रक्षित रहते थे।

छठा विभाग राजकीय कर का था, जिसमें कि व्यापारियों के लाभ से दशमांश लिया जाता था और उन्हें खूब सावधानी से कार्य करना होता था; जो उस कर को न देता, वह कठोर दंड से दंडित होता था।

राज्य के कर्मचारी लोग भूमि की नाप और उस पर कर निर्धारण करते थे और जल की नहरों का समुचित प्रबन्ध करते थे; जिससे सब कृषकों को सरलता होती थी। रुद्रदामा के गिर्नारवाले लेख से प्रतीत

होता है कि सुदर्शन ह्रद महाराज चन्द्रगुप्त के राजत्व-काल में बना था। इससे ज्ञात होता है कि राज्य में सर्वत्र जल का प्रबन्ध रहता था तथा कृषकों के लाभ पर विशेष ध्यान रहता था।

राज्य के प्रत्येक प्रांत में समाचार संग्रह करनेवाले थे, जो सत्य समाचार चन्द्रगुप्त को देते थे। चाणक्य-सा बुद्धिमान् मन्त्री चन्द्रगुप्त को बड़े भाग्य से मिला था और उसकी विद्वत्ता ऊपर लिखित प्रबन्धों से ज्ञात होती है। युद्धादिक के समय में भी भूमि बराबर जोती जाती थी, उसके लिये कोई बाधा नहीं थी।

राजकीय सेना में, जिसे राजा अपने व्यय से रखते थे, रणतरी २००० थी।*

८००० रथ, जो चार घोड़ों से जुते रहते थे, जिन पर एक रथी और दो योद्धा रहते थे।

४००००० पैदल असिचर्म्मधारी, धनुर्वाणधारी।

३००१० अश्वारोही।

६०००० रण-कुञ्जर, जिन पर महावत लेकर ४ योद्धा रहते थे और युद्ध के भारवाही, अश्व के सेवक तथा अन्यान्य सामग्री ढोनेवालों को मिलाकर ६००००० मनुष्यों की भीड़-भाड़ उस सेना में थी और उस सेना-विभाग के प्रत्येक ६ विभागों में ५ सदस्य रहते थे।

---

*"नदीपर्वतदुर्गीयाभ्यां नदीदुर्गीयात् भूमिलाभः श्रेयान्। नदीदुर्गं हि हस्तिस्तम्भसंक्रमसेतुबन्धनौभिस्साध्यम्"—अर्थशास्त्र २९४

"नावध्यक्षःसमुद्रसंयाननदीमुखतरप्रचारान् देवसरोविसरोनदीतरांश्च स्थानीयादिष्ववेक्षेत। अर्थशास्त्र, प्रकरण ४५

प्रथम विभाग नौ-सेना का था।

दूसरा विभाग युद्ध-सम्बन्धी भोजन, वस्त्र, छकड़े, बाजा, सेवक और जानवरों के चारा का प्रबन्ध करता था।

तीसरे वर्ग के अधीन पैदल सैनिक रहते थे।

चौथा विभाग अश्वारोहियों का था।

पाँचवाँ युद्ध-रथ की देखभाल करता था।

छठा युद्ध के हाथियों का प्रबन्ध करता था।

इस प्रकार सुरक्षित सेना और अत्युत्तम प्रबन्ध से चंद्रगुप्त ने २४ वर्ष तक भारतभूमि का शासन किया। भारतवर्ष के इतिहास में मौर्य युग का एक स्मरणीय समय छोड़कर २९७ ई० पू० में मानवलीला संवरण करके चंद्रगुप्त ने अपने सुयोग्य पुत्र के हाथ में राज्य-सिंहासन दिया।

सम्राट् चंद्रगुप्त दृढ़ शासक, विनीत, व्यवहार-चतुर, मेधावी, उदार, नैतिक; सद्गुणसम्पन्न तथा भारतमूमि के सपूतों में से एक रत्न था। बौद्ध ग्रंथ, अर्थकथा और वायुपुराण से चन्द्रगुप्त का शासन २४ वर्षों का ज्ञात होता है जो ३२१ ई० पू० से २९७ तक ठीक प्रतीत होता है।

चन्द्रगुप्त के समय का भारतवर्ष

भारतभूमि अतीव उर्वरा थी; कृत्रिम जल-स्रोत जो कि राजकीय प्रबन्ध से बने थे, खेती के लिये बहुत लाभदायक थे। प्राकृतिक बड़ी-बड़ी नदियाँ अपने तट के भूभाग को सदैव उर्वर बनाती थीं। एक वर्ष में दो बार अन्न काटे जाते थे, यदि किसी कारण से एक फसल ठीक न हुई, तो दूसरी अवश्य इतनी होती कि भारतवर्ष को अकाल

का सामना नहीं करना पड़ता था। कृषक लोग बहुत शान्तिप्रिय होते थे। युद्ध-आदि के समय में भी कृषक लोग आनन्द से हल चलाते थे। उत्पन्न हुये अन्न का चतुर्थांश राजकोश में जाता था। खेती की उन्नति की ओर राजा का भी विशेष ध्यान रहता था। कृषक लोग आनन्द में अपना जीवन व्यतीत करते थे।

दलदलों में अथवा नदियों के तटस्थ भूभाग में, फल-फूल भी बहुतायत से उगते थे और ये सुस्वादु तथा गुणदायक होते थे।

जानवर भी यहाँ अनेक प्रकार के यूनानियों ने देखे थे। वे कहते हैं कि चौपाये यहाँ जितने सुन्दर और बलिष्ठ होते थे, वैसे अन्यत्र नहीं। यहाँ के सुन्दर बैलों को सिकन्दर ने यूनान भी भेजा था। जानवरों में जङ्गली और पालतू सब प्रकार के यहाँ मिलते थे। पक्षी भी भिन्न-भिन्न प्रदेशों में बहुत प्रकार के थे, जो अपने घोंसलों में बैठ कर भारत के सुस्वादु फल खाकर कमनीय कण्ठ से उसका जय मनाते थे। धातु भी यहां प्रायः सब उत्पन्न होते थे। सोना, चांदी, तांबा, लोहा और जस्ता इत्यादि यहां के खानों में से निकलते और उनसे अनेक प्रकार के उपयोगी अस्त्र-शस्त्र, साज, आभूषण इत्यादि प्रस्तुत होते थे। शिल्प यहां का बहुत उन्नत अवस्था में था, क्योंकि उसके व्यवसायी सब प्रकार के कर से मुक्त होते थे। यही नहीं, उनको राजा से सहायता भी मिलती थी जिससे कि वे स्वच्छन्द होकर अपना कार्य करें। क्या विधिविडम्बना है, उसी भारत के शिल्प की, जहां के बनाये आडम्बर तथा शिल्प की वस्तुओं को देखकर यूनानियों ने कहा था कि 'भारत की राजधानी पाटलीपुत्र को देखकर फारस की राजधानी कुछ भी नहीं प्रतीत होती।'

शिल्पकार राज-कर से मुक्त होने के कारण राजा और प्रजा दोनों के हितकारी यन्त्र बनाता था, जिससे कार्यों में सुगमता होती थी।

प्लिनी कहता है कि 'भारतवर्ष में मनुष्य पांच वर्ग के हैं, एक जो लोग राजसभा में कार्य करते हैं, दूसरे सिपाही, तीसरे व्यापारी, चौथे कृषक और एक पांचवां वर्ग भी है जो कि दार्शनिक कहलाता है।'

पहले वर्ग के लोग सम्भवतः ब्राह्मण थे जो कि नीतिज्ञ होकर राजसभा में धर्माधिकार का कार्य्य करते थे।

और सिपाही लोग अवश्य क्षत्रिय ही थे। व्यापारियों का वणिक्-सम्प्रदाय था। कृषक लोग शूद्र अथवा दास थे, पर वह दासत्व सुसभ्य लोगों की गुलामी नहीं थी।

पाँचवाँ वर्ग उन ब्राह्मणों का था, जो संसार से एक प्रकार से अलग होकर ईश्वराराधना में अपना दिन बिताते तथा सदुपदेश देकर संसारी लोगों को आनन्दित करते थे। वे स्वयं यज्ञ करते थे और दूसरे का यज्ञ कराते थे; सम्भवतः वे ही मनुष्यों का भविष्य कहते थे और यदि उनका भविष्य कहना सत्य न होता तो वे फिर उस सम्मान की दृष्टि से नहीं देखे जाते थे।

भारतवासियों का व्यवहार बहुत सरल था। यज्ञ को छोड़ कर वे मदिरा और कभी नहीं पीते थे। लोगों का व्यय इतना परिमित था कि वे सूद पर ऋण कभी नहीं लेते थे। भोजन वे लोग नियत समय में तथा अकेले ही करते थे। व्यवहार के वे लोग बहुत सच्चे होते थे, झूठ से उन लोगों को घृणा थी। बारीक मलमल के कामदार कपड़े पहन कर

वे चलते थे। उन्हें सौन्दर्य का इतना ध्यान रहता था कि नौकर उन्हें छाता लगाकर चलता था। आपस में मुकदमे बहुत कम होते थे।

विवाह एक जोड़ी बैल देकर होता था और विशेष उत्सव में आडम्बर से कार्य करते थे। तात्पर्य यह कि, महाराज चक्रवर्ती चंद्रगुप्त के शासन में प्रजा शांतिपूर्वक निवास करती थी और सब लोग आनंद से अपना जीवन व्यतीत करते थे।

शिल्प-वाणिज्य की अच्छी उन्नति थी। राजा और प्रजा में विशेष सद्भाव था, राजा अपनी प्रजा के हित-साधन में सदैव तत्पर रहता था। प्रजा भी अपनी भक्ति से राजा को संतुष्ट रखती थी। चक्रवर्ती चन्द्रगुप्त का शासन-काल भारत का स्वर्णयुग था।

चाणक्य

इनके बहुत से नाम मिलते हैं—विष्णुगुप्त, कौटिल्य, चाणक्य, वात्स्यायन, द्रुमिल इत्यादि इनके प्रसिद्ध नाम हैं। भारतीय पर्यटक इन्हें दक्षिण देशीय कोङ्कणस्थ ब्राह्मण लिखते हैं और इसके प्रमाण में वे लिखते हैं कि दक्षिणदेशीय ब्राह्मण प्रायः कूटनीतिपटु होते हैं। चाणक्य की कथाओं में मिलता है कि वह श्यामवर्ण के पुरुष तथा कुरूप थे, क्योंकि इसी कारण से वह नंद की सभा से श्राद्ध के समय हटाये गये। जैनियों के मत से चाणक्य गोल्ल-ग्राम-वासी थे और जैन-धर्मावलम्बी थे। वह नन्द-द्वारा अपमानित होने पर नन्द-वंश का नाश करने की प्रतिज्ञा करके बाहर निकल पड़े और चंद्रगुप्त से मिलकर उसे कौशल से नंद-राज्य का स्वामी बना दिया।

बौद्ध लोग उन्हें तक्षशिला-निवासी ब्राह्मण बतलाते हैं और कहते हैं घननन्द को मार कर चाणक्य ही ने चंद्रगुप्त को राज्य दिया। पुराणों में मिलता है, "कौटिल्यो नाम ब्राह्मणः समुद्धरिष्यति।" अस्तु। सब की कथाओं का अनुमान करने से जाना जाता है कि चाणक्य ही चंद्रगुप्त की उन्नति के मूल हैं।

कामंदकीय नीतिसार में लिखा है—

यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसः।
पपात मूलतः श्रीमान्सुपर्वानंदपर्वतः॥
एकाकी मंत्रशक्त्या यः शक्तः शक्तिधरोपमः।
आजहार नृचंद्राय चंद्रगुप्ताय मेदिनीम्॥
नीतिशास्त्रामृतं धीमानर्थशास्त्रमहोदधेः।
य उद्दध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे॥

चंद्रगुप्त का प्रधान सहायक मंत्री चाणक्य ही था। पर यह ठीक नहीं ज्ञात होता कि वह कहां का रहनेवाला था। जैनियों के इतिहास से बौद्धों के इतिहास को लोग प्रामाणिक मानते हैं। हेमचंद्र ने जिस भावसे चाणक्य का चित्र अंकित किया है, वह प्रायः अस्वाभाविक घटनाओं से पूर्ण है।

जैन-ग्रन्थों और प्रबंधों में प्रायः सभी को जैनधर्म में किसी न किसी प्रकार आश्रय लेते हुए दिखाया गया है। यही बात चंद्रगुप्त के संबंध में भी है। श्रवण बेलगोलावाले लेख के द्वारा जो किसी जैन मुनि का है, चंदगुप्त को राज्य छोड़ कर यति-धर्म ग्रहण करने का प्रमाण दिया जाता है। अनेकों ने तो यहां तक कह डाला है कि उसका साथी चाणक्य भी जैन था।

अर्थशास्त्र के मंगलाचरण का प्रमाण देकर यह कहा जाता है कि (नमः शुक्रबृहस्पतिभ्यां) ऐसा मंगलाचरण आचार्यों के प्रति कृतज्ञता-सूचक वैदिक हिन्दुओं का नहीं हो सकता, क्योंकि वे प्रायः ईश्वर को नमस्कार करते हैं। किन्तु कामसूत्र के मंगलाचरण के संबंध में क्या होगा, जिसका मंगलाचरण है "नमो धर्मार्थकामेभ्यो।" इसमें भी तो ईश्वर की वंदना नहीं की गई है। तो क्या वात्स्यायन भी जैन थे ? इसलिए यह सब बातें व्यर्थ हैं। जैनों के अतिरिक्त जिन लोगों का चरित्र उन लोगों ने लिखा है, उसे अद्भुत, कुत्सित और अप्रासंगिक बना डाला है। स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुछ भारतीय चरित्रों को जैन ढाँचे में ढालने का जैन संस्कृत-साहित्य-द्वारा असफल प्रयत्न किया गया है। यहाँ तक उन लोगों ने लिख डाला है कि चंद्रगुप्त को भूख लगी तो चाणक्य ने एक ब्राह्मण के पेट से गुलगुले निकाल कर खिलाए। ऐसी अनेक आश्चर्यजनक कपोल-कल्पनाओं के आधार पर चंद्रगुप्त और चाणक्य को जैन बनाने का प्रयत्न किया जाता है।

इसलिए बौद्धों के विवरण की ओर ही ध्यान आकर्षित होता है। बौद्ध लोग कहते हैं कि "चाणक्य तक्षशिला-निवासी थे" और इधर हम देखते हैं कि तक्षशिला* में उस समय विद्यालय था जहाँ कि पाणिनि,

---

*कनिंगहम साहब वर्तमान शाह देहरी के समीप में तक्षशिला का होना मानते हैं। रामचन्द्र के भाई भरत के दो पुत्रों के नाम से उसी ओर दो नगरियाँ बसाई गईं थीं, तक्ष के नाम से तक्षशिला

जीवक आदि पढ़ चुके थे। अस्तु, सम्भवतः चाणक्य, जैसा कि बौद्ध लोग कहते हैं, तक्षशिला में रहते या पढ़ते थे। जब हम चन्द्रगुप्त की सहायक सेना की ओर ध्यान देते हैं, तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि चाणक्य का तक्षशिला से अवश्य सम्बन्ध था, क्योंकि चाणक्य अवश्य उनसे परिचित थे। नहीं तो वे लोग चंद्रगुप्त को क्या जानते? हमारा यही अनुमान है कि चाणक्य मगध के ब्राह्मण थे। क्योंकि मगध में नन्द की सभा में वे अपमानित हुए थे। उनकी जन्मभूमि पाटलीपुत्र ही थी।

पाटलीपुत्र इस समय प्रधान नगरी थी, चाणक्य तक्षशिला में विद्याध्ययन करके वहाँ से लौट आये। किसी कारणवश वह राजा पर कुपित हो गये, जिसके बारे में प्रायः सब विवरण मिलते-जुलते हैं। वह ब्राह्मण भी प्रतिज्ञा करके उठा कि आज से जब तक नन्दवंश का नाश न कर लूँगा, शिखा न बाँधूँगा और फिर चन्द्रगुप्त को मिलाकर जो-जो कार्य उन्होंने किये, वह पाठकों को ज्ञात ही है।

जहाँ तक ज्ञात होता है, चाणक्य वेदधर्मावलम्बी, कूटराजनीतिज्ञ, प्रखर प्रतिभावान् और हठी थे।

उनकी नीति अनोखी होती थी और उनमें अलौकिक क्षमता थी; नीति-शास्त्र के आचार्यों में उनकी गणना है। उनके बनाये नीचे

और पुष्कल के नाम से पुष्कलावती। तक्षशिला का विद्यालय उस समय भारत के प्रसिद्ध विद्यालयों में से एक था।

देवयल नागदत्त गण-मुख्य } —	मालव गण-तन्त्र के पदाधिकारी
साइबर्टियस मेगास्थनीज़ } —	यवन-दूत
गान्धार-नरेश —	आम्भीक का पिता
सिल्यूकस —	सिकन्दर का सेनापति
दांड्यायन —	एक तपस्वी

स्त्री-पात्र

अलका—	तक्षशिला की राजकुमारी
सुवासिनी—	शकटार की कन्या
कल्याणी—	मगध-राजकुमारी
नीला लीला } —	कल्याणी की सहेलियाँ
मालविका—	सिन्धु देश की कुमारी
कार्नेलिया—	सिल्यूकस की कन्या
मौर्य्य-पत्नी—	चन्द्रगुप्त की माता
एलिस—	कार्नेलिया की सहेली

चन्द्रगुप्त

प्रथम अंक

१

स्थान—तक्षशिला के गुरुकुल का मठ

चाणक्य और सिंहरण

चाणक्य—सौम्य, कुलपति ने मुझे गृहस्थजीवन में प्रवेश रने की आज्ञा दे दी। केवल तुम्हीं लोगों को अर्थशास्त्र ढ़ाने के लिए ठहरा था, क्योंकि इस वर्ष के भावी स्नातकों को र्थशास्त्र का पाठ पढ़ाकर मुझ अकिञ्चन को गुरु-दक्षिणा चुका नी थी।

सिंहरण—आर्य्य, मालवों को अर्थशास्त्र की उतनी आव-यकता नहीं, जितनी अस्त्रशास्त्र की। इसीलिए मैं पाठ में पिछड़ा हा, क्षमा-प्रार्थी हूँ।

चाणक्य—अच्छा, अब तुम मालव जाकर क्या करोगे?

सिंह०—अभी तो मैं मालव नहीं जाता। मुझे तक्षशिला की राजनीति पर दृष्टि रखने की आज्ञा मिली है।

चाणक्य—मुझे प्रसन्नता होती है कि, तुम्हारा अर्थशास्त्र पढ़ना सफल होगा। क्या तुम जानते हो कि यवनों के दूत यहाँ क्यों आये हैं?

सिंह०—मैं उसे जानने की चेष्टा कर रहा हूँ। आर्य्यावर्त्त का भविष्य लिखने के लिए कुचक्र और प्रतारणा की लेखनी और मसी प्रस्तुत हो रही है। उत्तरापथ के खण्ड-राज्य द्वेष से जर्जर हैं। शीघ्र भयानक विस्फोट होगा।

[सहसा आम्भीक और अलका का प्रवेश]

आम्भीक—कैसा विस्फोट? युवक, तुम कौन हो?

सिंह०—एक मालव।

आम्भीक—नहीं, विशेष परिचय की आवश्यकता है।

सिंह०—तक्षशिला-गुरुकुल का एक छात्र!

आम्भीक—देखता हूँ कि तुम दुर्विनीत भी हो!

सिंह०—कदापि नहीं राजकुमार! विनम्रता के साथ निर्भीक होना मालवों का वंशानुगत-चरित्र है, और मुझे तो तक्षशिला की शिक्षा का भी गर्व है।

आम्भीक—परंतु तुम किसी विस्फोट की बातें अभी कर रहे थे। और चाणक्य, क्या तुम्हारा भी इसमें कुछ हाथ है?

[चाणक्य चुप रहता है।]

आम्भीक—(क्रोध)—बोलो ब्राह्मण, मेरे राज्य में रह कर, मेरे अन्न से पल कर, मेरे ही विरुद्ध कुचक्रों का सृजन!

चाणक्य—राजकुमार, ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है

और न किसी के अन्न से पलता है; स्वराज्य में विचरता है और अमृत होकर जीता है। वह तुम्हारा मिथ्या गर्व है। ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी, स्वेच्छा से इन माया-स्तूपों को ठुकरा देता है, प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देता है।

आम्भीक—वह काल्पनिक महत्त्व मायाजाल है; तुम्हारे प्रत्यक्ष नीच कर्म्म उन पर पर्दा नहीं डाल सकते।

चाणक्य—सो कैसे होगा अविश्वासी क्षत्रिय! इसी से दस्यु और म्लेच्छ साम्राज्य बना रहे हैं और आर्य्य-जाति पतन के कगारे पर खड़ी एक धक्के की राह देख रही है।

आम्भीक—और तुम धक्का देने का कुचक्र विद्यार्थियों को सिखा रहे हो!

सिंह०—विद्यार्थी और कुचक्र! असंभव। यह तो वे ही कर सकते हैं, जिनके हाथ में कुछ अधिकार हो—जिनका स्वार्थ समुद्र से भी विशाल और सुमेरु से भी कठोर हो, जो यवनों की मित्रता के लिए स्वयं वाल्हीक तक...

आम्भीक—बस-बस दुर्द्धर्ष युवक! बता, तेरा अभिप्राय क्या है?

सिंह०—कुछ नहीं।

आम्भीक—नहीं, बताना होगा। मेरी आज्ञा है।

सिंह०—गुरुकुल में केवल आचार्य्य की आज्ञा शिरोधार्य्य होती है; अन्य आज्ञाएँ, अवज्ञा के कान से सुनी जाती हैं राजकुमार!

अलका—भाई! इस वन्य निर्झर के समान स्वच्छ और स्वच्छन्द हृदय में कितना बलवान् वेग है! यह अवज्ञा भी स्पृहणीय है। जाने दो।

आम्भीक— चुप रहो अलका, यह ऐसी बात नहीं है जो यों ही उड़ा दी जाय। इसमें कुछ रहस्य है।

[चाणक्य चुपचाप मुस्कराता है।]

सिंह०— हाँ-हाँ, रहस्य है! यवन-आक्रमणकारियों के पुष्कल स्वर्ण से पुलकित होकर, आर्य्यावर्त्त की सुख-रजनी की शांति-निद्रा में, उत्तरापथ की अर्गला धीरे से खोल देने का रहस्य है। क्यों राजकुमार! संभवतः तक्षशिलाधीश वाल्हीक तक इसी रहस्य का उद्घाटन करने गये थे?

आम्भीक—(पैर पटक कर)—ओह असह्य! युवक, तुम वन्दी हो।

सिंह०—क़दापि नहीं; मालव कदापि वन्दी नहीं हो सकता।

[आम्भीक तलवार खींचता है।]

चंद्रगुप्त—(सहसा प्रवेश करके)—ठीक है, प्रत्येक निरपराध आर्य्य स्वतंत्र है, उसे कोई वन्दी नहीं बना सकता है। यह क्या राजकुमार! खड्ग को कोश में स्थान नहीं है क्या?

सिंह०—(व्यंग्य) वह तो स्वर्ण से भर गया है!

आम्भीक—तो तुम सब कुचक्र में लिप्त हो! और इस मालव को तो मेरा अपमान करने का प्रतिफल—मृत्यु-दण्ड—अवश्य भोगना पड़ेगा।

चन्द्र०—क्यों, क्या वह एक निस्सहाय छात्र तुम्हारे राज्य में शिक्षा पाता है और तुम एक राजकुमार हो—बस इसीलिये ?

[आम्भीक तलवार चलाता है। चंद्रगुप्त अपनी तलवार पर उसे रोकता है; आम्भीक की तलवार छूट जाती है। वह निस्सहाय होकर चन्द्रगुप्त के आक्रमण की प्रतीक्षा करता है। बीच में अलका आ जाती है।]

सिंह०—वीर चन्द्रगुप्त, बस। जाओ राजकुमार, यहाँ कोई कुचक्र नहीं है; अपने कुचक्रों से अपनी रक्षा स्वयं करो।

चाणक्य—राजकुमारी, मैं गुरुकुल का अधिकारी हूँ। मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम क्रोधाभिभूत कुमार को लिवा जाओ। गुरुकुल में शस्त्रों का प्रयोग शिक्षा के लिये होता है, द्वंद्व-युद्ध के लिये नहीं। विश्वास रखना, इस दुर्व्यवहार का समाचार महाराज के कानों तक न पहुँचेगा।

अलका—ऐसा ही हो। चलो भाई !

[क्षुब्ध आम्भीक उसके साथ जाता है।]

चाणक्य—(चंद्रगुप्त से)—तुम्हारा पाठ समाप्त हो चुका है और आज का यह काण्ड असाधारण है। मेरी सम्मति है कि तुम शीघ्र तक्षशिला का परित्याग कर दो। और सिंहरण, तुम भी।

चंद्र०—आर्य्य, हम मागध हैं और यह मालव। अच्छा होता कि यहीं गुरुकुल में हम लोग शस्त्र की परीक्षा भी देते।

चाणक्य—क्या यही मेरी शिक्षा है ? बालकों की-सी चपलता दिखलाने का यह स्थल नहीं है। तुम लोगों को समय पर शस्त्र का प्रयोग करना पड़ेगा। परंतु अकारण रक्तपात नीति-विरुद्ध है।

चंद्र०—आर्य्य ! संसार-भर की नीति और शिक्षा का अर्थ मैंने यही समझा है कि आत्म-सम्मान के लिये मर-मिटना ही दिव्य जीवन है। सिंहरण मेरा आत्मीय है, मित्र है, उसका मान मेरा ही है।

चाणक्य—देखूंगा कि इस आत्म-सम्मान की भविष्य परीक्षा में तुम कहाँ तक उत्तीर्ण होते हो !

सिंह०—आपके आशीर्वाद से हम लोग अवश्य सफल होंगे।

चाणक्य—तुम मालव हो और यह मागध; यही तुम्हारे मान का अवसान है न ? परंतु आत्म-सम्मान इतने ही से संतुष्ट नहीं होगा। मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्य्यावर्त्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा। क्या तुम नहीं देखते हो कि आगामी दिवसों में, आर्य्यावर्त्त के सब स्वतंत्र राष्ट्र एक के अनंतर दूसरे विदेशी विजेता से पद-दलित होंगे ? आज जिस व्यंग्य को लेकर इतनी घटना हो गई है, वह बात भावी गांधार-नरेश आम्भीक के हृदय में, शल्य के समान चुभ गयी है। पञ्चनद-नरेश पर्वतेश्वर के विरोध के कारण, यह क्षुद्र-हृदय आम्भीक यवनों का स्वागत करेगा और आर्य्यावर्त्त का सर्वनाश होगा।

चंद्र०—गुरुदेव, विश्वास रखिये; यह सब कुछ नहीं होने पावेगा। यह चंद्रगुप्त आपके चरणों की शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करता है, कि यवन यहाँ कुछ न कर सकेंगे।

चाणक्य—साधु! तुम्हारी प्रतिज्ञा अचल हो। परन्तु इसके लिये पहले तुम मगध जाकर साधन-सम्पन्न बनो। यहाँ समय बिताने का प्रयोजन नहीं। मैं भी पञ्चनद-नरेश से मिलता हुआ मगध आऊँगा। और सिंहरण, तुम भी सावधान!

सिंह०—आर्य्य, आपका आशीर्वाद ही मेरा रक्षक है।

[चन्द्रगुप्त और चाणक्य का प्रस्थान]

सिंह०—एक अग्निमय गंधक का स्रोत आर्य्यावर्त्त के लौह-अस्त्रागार में घुस कर विस्फोट करेगा। चञ्चला रणलक्ष्मी इन्द्र-धनुष-सी विजय-माला हाथ में लिये उस सुन्दर नील-लोहित प्रलय-जलद में विचरण करेगी और वीर-हृदय मयूर-से नाचेंगे। तब आओ देवि! स्वागत!!

[अलका का प्रवेश]

अलका—मालव-वीर, अभी तुमने तक्षशिला का परित्याग नहीं किया?

सिंह०—क्यों देवि! क्या मैं यहाँ रहने के उपयुक्त नहीं हूँ?

अलका—नहीं, मैं तुम्हारी सुख-शांति के लिये चिन्तित हूँ। भाई ने तुम्हारा अपमान किया है, पर वह अकारण न था; जिसका जो मार्ग है, उस पर वह चलेगा। तुमने अनधिकार चेष्टा की थी! देखती हूँ कि प्रायः मनुष्य, दूसरों को अपने मार्ग पर चलाने के लिये रुक जाता है, और अपना चलना बंद कर देता है।

सिंह०—परन्तु भद्रे, जीवन-काल में भिन्न-भिन्न मार्गों की परीक्षा करते हुए जो ठहरता हुआ चलता है, वह दूसरों को लाभ ही पहुँचाता है। यह कष्टदायक तो है, परंतु निष्फल नहीं।

अलका—किन्तु मनुष्य को अपने जीवन और सुख का भी ध्यान रखना चाहिये।

सिंह०—मानव कब दानव से भी दुर्दान्त, पशु से भी बर्बर, और पत्थर से भी कठोर, करुणा के लिये निरवकाश हृदयवाला हो जायगा, नहीं जाना जा सकता। अतीत सुखों के लिये सोच क्यों, अनागत भविष्य के लिये भय क्यों और वर्तमान को मैं अपने अनुकूल बना ही लूंगा; फिर चिन्ता किस बात की?

अलका—मालव, तुम्हारे देश के लिये तुम्हारा जीवन अमूल्य है, और वही यहाँ आपत्ति में है।

सिंह०—राजकुमारी, इस अनुकम्पा के लिये कृतज्ञ हुआ। परंतु मेरा देश मालव ही नहीं, गांधार भी है। यही क्या, समग्र आर्य्यावर्त्त है, इसलिये मैं......

अलका—(आश्चर्य से)—क्या कहते हो?

सिंह०—गांधार आर्य्यावर्त्त से भिन्न नहीं है, इसीलिये उसके पतन को मैं अपना अपमान समझता हूँ।

अलका—(निःश्वास लेकर)—इसका मैं अनुभव कर रही हूँ। परंतु जिस देश में ऐसे वीर युवक हों, उसका पतन असम्भव है। मालव-वीर, तुम्हारे मनोबल में स्वतंत्रता है और तुम्हारी दृढ़ भुजाओं में आर्य्यावर्त्त के रक्षण की शक्ति है; तुम्हें सुरक्षित

रहना ही चाहिये। मैं भी आर्य्यावर्त्त की बालिका हूँ—तुमसे अनुरोध करती हूँ कि तुम शीघ्र गांधार छोड़ दो। मैं आम्भीक को शक्तिभर पतन से रोकूंगी, परन्तु उसके न मानने पर तुम्हारी आवश्यकता होगी। जाओ वीर !

सिंह०—अच्छा राजकुमारी, तुम्हारे स्नेहानुरोध से मैं जाने के लिये बाध्य हो रहा हूँ। शीघ्र ही चला जाऊँगा देवि! किन्तु यदि किसी प्रकार सिंधु की प्रखर धारा को यवन-सेना न पार कर सकती........!

अलका—मैं चेष्टा करूँगी वीर, तुम्हारा नाम ?

सिंह०—मालवगण के राष्ट्रपति का पुत्र सिंहरण।

अलका—अच्छा फिर कभी।

[दोनों एक दूसरे को देखते हुए प्रस्थान करते हैं।]

२

मगध-सम्राट् का विलास-कानन

विलासी युवक और युवतियों के दल का विहार

नन्द—(प्रवेश करके)—आज वसंत-उत्सव है क्या ?

एक युवक—जय हो देव ! आपकी आज्ञा से कुसुमपुर के नागरिकों ने आयोजन किया है।

नन्द—परन्तु मदिरा का तो तुम्हारे समाज में अभाव है, फिर आमोद कैसा ?—(एक युवती से)—देखो-देखो—तुम सुन्दरी हो, परन्तु तुम्हारे यौवन का विभ्रम अभी संकोच की अर्गला से जकड़ा हुआ है ! तुम्हारी आँखों में काम का सुकुमार संकेत नहीं, अनुराग की लाली नहीं ! फिर कैसा प्रमोद !

एक युवती—हम लोग तो निमंत्रित नागरिक हैं देव ! इसका दायित्व तो निमंत्रण देने वाले पर है।

नन्द—वाह, यह अच्छा उलाहना रहा !—(अनुचर से)—मूर्ख ! अभी और कुछ सुनावेगा ? तू नहीं जानता कि मैं ब्रह्मास्त्र से अधिक इन सुन्दरियों के कुटिल कटाक्षों से डरता हूँ ! ले आ—शीघ्र ले आ—नागरिकों पर तो मैं राज्य करता हूँ, परन्तु मेरी मगध की नागरिकाओं का शासन मेरे ऊपर है। श्रीमती, सबसे कह दो—नागरिक नन्द, कुसुमपुर के कमनीय कुसुमों से अपराध के लिए क्षमा माँगता है और आज के दिन वह तुम लोगों का कृतज्ञ सहचर-मात्र है !

[अनुचर लोग प्रत्येक कुञ्जों में मदिरा-कलश और चषक पहुंचाते हैं। राक्षस और सुवासिनी का प्रवेश, पीछे-पीछे कुछ नागरिक।]

राक्षस—सुवासिनी ! एक पात्र और; चलो इस कुञ्ज में।

सुवा०—नहीं, अब मैं न सँभाल सकूंगी।

राक्षस—फिर इन लोगों से कैसे पीछा छूटेगा ?

सुवा०—मेरी एक इच्छा है।

एक नागरिक—क्या इच्छा है सुवासिनी, हम लोग अनुचर हैं। केवल एक सुन्दर आलाप की, एक कोमल मूर्च्छना की लालसा है।

सुवा०—अच्छा तो अभिनय के साथ।

सब—(उल्लास से)—सुन्दरियों की रानी सुवासिनी की जय !

सुवा०—परन्तु राक्षस को कच का अभिनय करना पड़ेगा !

एक—और तुम देवयानी, क्यों ? यही न ? राक्षस सचमुच राक्षस होगा, यदि इसमें आनाकानी करे तो···चलो राक्षस !

दूसरा—नहीं मूर्ख ! आर्य्य राक्षस कह। इतने बड़े कला-कुशल विद्वान् को किस प्रकार सम्बोधित करना चाहिये, तू इतना भी नहीं जानता ! आर्य्य राक्षस ! इन नागरिकों की प्रार्थना से इस कष्ट को स्वीकार कीजिये।

[राक्षस उपयुक्त स्थान ग्रहण करता है। कुछ मूक अभिनय, फिर उसके बाद सुवासिनी का भाव-सहित गान—

तुम कनक किरण के अन्तराल में
लुक-छिप कर चलते हो क्यों ?

नत मस्तक गर्व वहन करते
यौवन के घन, रस कन ढरते
हे लाज भरे सौंदर्य !
बता दो मौन बने रहते हो क्यों ?
अधरों के मधुर कगारों में
कल-कल ध्वनि की गुञ्जारों में
मधुसरिता-सी यह हँसी,
तरल अपनी पीते रहते हो क्यों ?
वेला विभ्रम की बीत चली
रजनीगंधा की कली खिली—
अब सान्ध्य मलय-आकुलित
दुकूल कलित हो, यों छिपते हो क्यों ?

['साधु साधु' की ध्वनि]

नन्द—उस अभिनेत्री को यहाँ बुलाओ।

[सुवासिनी नन्द के समीप आकर प्रणत होती है।]

नन्द—तुम्हारा अभिनय तो अभिनय नहीं हुआ !

नागरिक—अपितु वास्तविक घटना, जैसी देखने में आवे वैसी ही।

नन्द—तुम बड़े कुशल हो। ठीक कहा।

सुवासिनी—तो मुझे दण्ड मिले। आज्ञा कीजिये देव !

नन्द—मेरे साथ एक पात्र।

सुवासिनी—परन्तु देव, एक बड़ी भूल होगी।

नन्द—वह क्या ?

सुवासिनी—आर्य्य राक्षस का अभिनय पूर्ण गान नहीं हुआ।

नन्द—राक्षस !

नागरिक—यहीं हैं, देव !

[राक्षस आकर प्रणाम करता है]

नन्द—वसंतोत्सव की रानी की आज्ञा से तुम्हें गाना होगा।

राक्षस—उसका मूल्य होगा एक पात्र कादम्ब।

[सुवासिनी पात्र भर कर देती है।]

[सुवासिनी मान का मूक अभिनय करती है, राक्षस सुवासिनी के सम्मुख अभिनय-सहित गाता है।

निकल मत बाहर दुर्बल आह !
लगेगा तुझे हँसी का शीत
शरद नीरद माला के बीच
तड़प ले चपला-सी भयभीत

पड़ रहे पावन प्रेम-फुहार
जलन कुछ-कुछ है मीठी पीर
सम्हाले चल कितनी है दूर
प्रलय तक व्याकुल हो न अधीर

अश्रुमय सुंदर विरह निशीथ
भरे तारे न ढुलकते आह !
न उफना दे आँसू हैं भरे
इन्हीं आँखों में उनकी चाह

काकली-सी बनने की तुम्हें
लगन लग जाय न हे भगवान्
पपीहा का पी सुनता कभी!
अरे कोकिल की देख दशा न;

हृदय है पास, साँस की राह
चले आना-जाना चुपचाप
अरे छाया बन, छू मत उसे
भरा है तुझमें भीषण ताप

हिला कर धड़कन से अविनीत
जगा मत, सोया है सुकुमार
देखता है स्मृतियों का स्वप्न,
हृदय पर मत कर अत्याचार।

कई नागरिक—स्वर्गीय अमात्य वक्रनास के कुल की जय!

नन्द—क्या कहा, वक्रनास का कुल?

नागरिक—हाँ देव, आर्य्य राक्षस उन्हीं के भ्रातुष्पुत्र हैं।

नन्द—राक्षस! आज से तुम मेरे अमात्यवर्ग में नियुक्त हुए। तुम तो कुसुमपुर के एक रत्न हो!

[उसे माला पहनाता है और शस्त्र देता है।]

सब—सम्राट् की जय हो! अमात्य राक्षस की जय हो!

नन्द—और सुवासिनी, तुम मेरी अभिनय-शाला की रानी!

[सब हर्ष प्रकट करते हुए जाते हैं।]

पाटलिपुत्र में एक भग्नकुटीर

[चाणक्य—(प्रवेश करके)—झोंपड़ी ही तो थी, पिताजी यहीं मुझे गोद में बिठा कर राज-मंदिर का सुख अनुभव करते थे। ब्राह्मण थे, ऋत और अमृत जीविका से संतुष्ट थे, पर वे भी न रहे! कहाँ गये? कोई नहीं जानता, मुझे भी कोई नहीं पहचानता यही तो मगध का राष्ट्र है। प्रजा की खोज है किसे? वृद्ध दरिद्र ब्राह्मण कहीं ठोकरें खाता होगा, या कहीं मर गया होगा!]

[एक प्रतिवेशी का प्रवेश

प्रतिवेशी—(देखकर)—कौन हो जी तुम? इधर के घरों को बड़ी देर से क्या घूर रहे हो?

चाणक्य—ये घर हैं, जिन्हें पशु की खोह कहने में भी संकोच होता है! यहाँ कोई स्वर्ण-रत्नों का ढेर नहीं, जो लूटने का भय हो।

प्रतिवेशी—युवक, क्या तुम किसी को खोज रहे हो?

चाणक्य—हाँ, खोज रहा हूँ यहीं झोंपड़ी में रहने वाले वृद्ध ब्राह्मण चणक को। आजकल वे कहाँ हैं, बता सकते हो?

प्रतिवेशी—(सोचकर)—ओहो! कई बरस हुए, वह तो राजा की आज्ञा से निर्वासित कर दिया गया है।—(हँसकर)—वह ब्राह्मण भी बड़ा हठी था। उसने राजा नन्द के विरुद्ध प्रचार करना आरंभ किया था। सो भी क्यों, एक मंत्री शकटार के लिए

उसने सुना कि राजा ने शकटार का बन्दीगृह में वध करवा डाला। ब्राह्मण ने नगर में इस अन्याय के विरुद्ध आतंक फैलाया। सबसे कहने लगा कि—"यह महापद्म का जारज पुत्र नन्द—महापद्म का हत्याकारी नन्द— मगध में राक्षसी राज्य कर रहा है। नागरिको, सावधान !!"

चाणक्य—अच्छा, तब क्या हुआ ?

प्रतिवेशी—वह पकड़ा गया। सो भी कब, जब एक दिन अहेर की यात्रा करते हुए नन्द के लिये राजपथ में मुक्तकंठ से नागरिकों ने अनादर के वाक्य कहे। नंद ने ब्राह्मण को समझाया। यह भी कहा कि तेरा मित्र शकटार वन्दी है, मारा नहीं गया। पर वह बड़ा हठी था; उसने न माना, न-ही माना। नन्द ने भी चिढ़ कर उसका ब्रह्मस्व बौद्ध-विहार में दे दिया और उसे मगध से निर्वासित कर दिया। यही तो उसकी झोंपड़ी है।

[जाता है]

चाणक्य—(उसे बुलाकर)—अच्छा, एक बात और बताओ।

प्रति०—क्या पूछते हो जी, तुम इतना जान लो कि नंद को ब्राह्मणों से घोर शत्रुता है और वह बौद्धधर्मानुयायी हो गया है।

चाणक्य—होने दो; परन्तु यह तो बताओ—शकटार का कुटुम्ब कहाँ है ?

प्रति०—कैसे मनुष्य हो ? अरे राज-कोपानल में वे सब जल मरे। इतनी-सी बात के लिये मुझे लौटाया था—छिः !

[जाना चाहता है]

चाणक्य—हे भगवान्! एक बात दया करके और बता दो—शकटार की कन्या सुवासिनी कहाँ है?

प्रति०—(ओर से हँसता है)—युवक! वह बौद्ध-विहार में चली गई थी, परन्तु वहाँ भी न रह सकी। पहले तो अभिनय करती फिरती थी, आजकल कहाँ है, नहीं जानता।

[जाता है]

चाणक्य—पिता का पता नहीं; झोंपड़ी भी न रह गई। सुवासिनी अभिनेत्री हो गई—संभवतः पेट की ज्वाला से। एक साथ दो-दो कुटुम्बों का सर्वनाश और कुसुमपुर फूलों की सेज में ऊँघ रहा है! क्या इसीलिये राष्ट्र की शीतल छाया का संगठन मनुष्य ने किया था? मगध! मगध! सावधान! इतना अत्याचार! सहना असंभव है। तुझे उलट दूँगा! नया बनाऊँगा, नहीं तो नाश ही करूँगा!—(ठहरकर)—एक बार चलूँ, नंद से कहूँ। नहीं, परन्तु मेरी भूमि, मेरी वृत्ति, वही मिल जाय; मैं शास्त्र-व्यवसायी न रहूँगा, मैं कृषक बनूँगा। मुझे राष्ट्र की भलाई-बुराई से क्या! तो चलूँ।—(देखकर)—यह एक लकड़ी का स्तम्भ अभी उसी झोंपड़ी का खड़ा है, इसके साथ मेरे बाल्यकाल की सहस्रों भाँवरियाँ लिपटी हुई हैं; जिन पर मेरी धवल मधुर हँसी का आवरण चढ़ा रहता था! शैशव की स्निग्ध स्मृति! विलीन हो जा!

[खम्भा खींच कर गिराता हुआ चला जाता है]

४

कुसुमपुर के सरस्वती-मंदिर के उपवन का पथ

राक्षस—सुवासिनी ! हठ न करो ।

सुवा०—नहीं, उस ब्राह्मण को दण्ड दिये बिना सुवासिनी जी नहीं सकती अमात्य, तुमको करना होगा। मैं बौद्धस्तूप की पूजा करके आ रही थी, उसने व्यंग किया और वह बड़ा कठोर था, राक्षस ! उसने कहा—'वेश्याओं के लिये भी एक धर्म की आवश्यकता थी, चलो अच्छा ही हुआ । ऐसे धर्म के अनुगत पतितों की भी कमी नहीं ।'

राक्षस—यह उसका अन्याय था ।

सुवा०—परंतु अन्याय का प्रतिकार भी है। नहीं तो मैं समझूँगी कि तुम भी वैसे ही एक कठोर ब्राह्मण हो ।

राक्षस—मैं वैसा हूँ कि नहीं, यह पीछे मालूम होगा। परंतु सुवासिनी, मैं स्वयं हृदय से बौद्धमत का समर्थक हूँ; केवल उसकी दार्शनिक सीमा तक—इतना ही कि संसार दुःखमय है।

सुवा०—इसके बाद ?

राक्षस—मैं इस क्षणिक जीवन की घड़ियों को सुखी बनाने का पक्षपाती हूँ। और तुम जानती हो कि मैंने व्याह नहीं किया, परन्तु भिक्षु भी न बन सका ।

सुवा०—तब आज से मेरे कारण तुमको राजचक्र में बौद्धमत का समर्थन करना होगा ।

राक्षस—मैं प्रस्तुत हूँ ।

सुवा०—फिर तो मैं तुम्हारी हूँ। मुझे विश्वास है कि दुराचारी सदाचार के द्वारा शुद्ध हो सकता है, और बौद्धमत इसका समर्थन करता है, सबको शरण देता है। हम दोनों उपासक होकर सुखी बनेंगे।

राक्षस—इतना बड़ा सुख-स्वप्न का जाल आँखों में न फैलाओ।

सुवा०—नहीं प्रिय! मैं तुम्हारी अनुचरी हूँ। मैं नन्द की विलास-लीला का क्षुद्र उपकरण बनकर नहीं रहना चाहती।

[जाती है [

राक्षस—(एक परदा उठ रहा है या गिर रहा है, समझ में नहीं आता—(आँख मींच कर)—सुवासिनी! कुसुमपुर का स्वर्गीय कुसुम मैं हस्तगत कर लूँ? नहीं, राजकोप होगा! परन्तु जीवन वृथा है। मेरी विद्या, मेरा परिष्कृत विचार सब व्यर्थ है। सुवासिनी एक लालसा है, एक प्यास है। वह अमृत है, उसे पाने के लिये सौ बार मरूँगा।)

[नेपथ्य से—हटो, मार्ग छोड़ दो।]

राक्षस—कोई राजकुल की सवारी है क्या? तो चलूँ।

[जाता है।

[रक्षियों के साथ शिविका पर राजकुमारी कल्याणी का प्रवेश]

कल्याणी—(शिविका से उतरती हुई लीला से)—शिविका उद्यान के बाहर ले जाने के लिये कहो और रक्षी लोग भी वहीं ठहरें।

शिविका लेकर रक्षक जाते हैं]

कल्याणी—(देखकर)—आज सरस्वती-मन्दिर में कोई समाज है क्या ? जा तो नीला, देख आ।

[नीला जाती है।]

लीला—राजकुमारी, चलिये इस श्वेत शिला पर बैठिये। यहाँ अशोक की छाया बड़ी मनोहर है। अभी तीसरे पहर का सूर्य्य कोमल होने पर भी स्पृहणीय नहीं।

कल्याणी—चल।

[दोनों जाकर बैठती हैं, नीला आती है–]

नीला—राजकुमारी, आज तक्षशिला से लौटे हुए स्नातक लोग सरस्वती-दर्शन के लिये आये हैं।

कल्याणी—क्या सब लौट आये हैं ?

नीला—यह तो न जान सकी।

कल्याणी—अच्छा, तू भी बैठ। देख, कैसी सुन्दर माधवी लता फैल रही है। महाराज के उद्यान में भी लतायें ऐसी हरी-भरी नहीं, जैसे राज-आतंक से वे भी डरी हुई हों। सच नीला, मैं देखती हूँ कि महाराज से कोई स्नेह नहीं करता, डरते भले ही हों।

नीला—सखी, मुझ पर भी उनका कन्या-सा ही स्नेह है, परन्तु मुझे डर लगता है।

कल्याणी—मुझे इसका बड़ा दुःख है। देखती हूँ कि समस्त प्रजा उनसे त्रस्त और भयभीत रहती है। प्रचण्ड शासन करने के कारण उनका बड़ा दुर्नाम है।

नीला—परन्तु इसका उपाय क्या है ? देख लीला, वे दो
न इधर आ रहे हैं। चल, हम लोग छिप जायँ।

[सब कुञ्ज में चली जाती हैं; दो ब्रह्मचारियों का प्रवेश]

एक ब्रह्म०—धर्म्मपालित, मगध को उन्माद हो गया है। वह जन-
धारण के अधिकार अत्याचारियों के हाथ में देकर विलासिता का
प्न देख रहा है। तुम तो गये नहीं, मैं अभी उत्तरापथ से आ रहा
। गणतन्त्रों में सब प्रजा वन्यवीरुध के समान स्वच्छन्द फल-फूल
ही हैं। इधर उन्मत्त मगध, साम्राज्य की कल्पना में निमग्न है।

दूसरा—स्नातक, तुम ठीक कह रहे हो। महापद्म का जारज
त्र नंद केवल शस्त्र-बल और कूटनीति के द्वारा सदाचारों के
र पर ताण्डव नृत्य कर रहा है। वह सिद्धान्त-विहीन नृशंस,
भी बौद्धों का पक्षपाती, कभी वैदिकों का अनुयायी बन कर
नों में भेदनीति चला कर बल-सञ्चय करता रहता है। मूर्ख
नता धर्म की ओट में नचाई जा रही है। परन्तु तुम देश-विदेश
खकर आये हो, आज मेरे घर पर तुम्हारा निमन्त्रण है; वहाँ
बको तुम्हारी यात्रा का विवरण सुनने का अवसर मिलेगा।

पहिला—चलो। [दोनों जाते हैं, कल्याणी बाहर आती है।]

कल्याणी—सुन कर हृदय की गति रुकने लगती है। इतना
कदर्थित राजपद !—जिसे साधारण नागरिक भी घृणा की दृष्टि
से देखता है—कितने मूल्य का है लीला ?

(नेपथ्य से) भागो भागो ! यह राजा का अहेरी चीता पिंजरे
से निकल भागा है, भागो, भागो !

[तीनों डरती हुई कुञ्ज में छिपने लगती हैं। चीता आता है। दूर से तीर आकर उसका शिर भेद कर निकल जाता है। धनुष लिये हुए चन्द्रगुप्त का प्रवेश]

चन्द्र०—कौन यहाँ है ? किधर से स्त्रियों का क्रंदन सुनाई पड़ा था !—(देखकर)—अरे यहाँ तो तीन सुकुमारियाँ हैं ! भद्रे, पशु ने कुछ चोट तो नहीं पहुँचाई ?

लीला—साधु ! वीर ! राजकुमारी की प्राण-रक्षा के लिये तुम्हें अवश्य पुरस्कार मिलेगा !

चन्द्र०—कौन राजकुमारी, कल्याणी देवी ?

लीला—हाँ, यही न हैं ? भय से मुख विवर्ण हो गया है।

चन्द्र०—राजकुमारी, मौर्य्य-सेनापति का पुत्र चन्द्रगुप्त प्रणाम करता है।

कल्याणी—(स्वस्थ होकर, सलज्ज)—नमस्कार, चन्द्रगुप्त, मैं कृतज्ञ हुई। तुम भी स्नातक होकर लौटे हो ?

चन्द्र०—हाँ देवि, तक्षशिला में पाँच वर्ष रहने के कारण यहाँ के लोगों को पहचानने में विलम्ब होता है। जिन्हें किशोर छोड़ कर गया था, अब वे तरुण दिखाई पड़ते हैं। मैं अपने कई बाल-सहचरों को भी पहचान न सका !

कल्याणी—परन्तु मुझे आशा थी कि तुम मुझे न भूल जाओगे।

चन्द्र०—देवि, यह अनुचर सेवा के उपयुक्त अवसर पर ही पहुँचा। चलिये, शिविका तक पहुँचा दूँ। [सब जाते हैं]

५

मगध में नन्द की राज-सभा

राक्षस और सभासदों के साथ नन्द

नन्द—हाँ, तब ?

राक्षस—दूत लौट आये और उन्होंने कहा है कि पंचनद-नरेश को यह सम्बन्ध स्वीकार नहीं।

नन्द—क्यों ?

राक्षस—प्राच्य देश के बौद्ध और शूद्र राजा की कन्या से वे परिणय नहीं कर सकते।

नन्द—इतना गर्व !

राक्षस—यह उसका गर्व नहीं, यह धर्म्म का दम्भ है, व्यंग है। मैं इसका फल दूँगा। मगध-जैसे शक्तिशाली राष्ट्र का अपमान करके कोई यों ही नहीं बच जायगा। ब्राह्मणों का यह······

[प्रतिहारी का प्रवेश]

प्रतिहार—जय हो देव, मगध से शिक्षा के लिये गये हुए तक्षशिला के स्नातक आये हैं।

नन्द—लिवा लाओ।

[दौवारिक का प्रस्थान; चन्द्रगुप्त के साथ कई स्नातकों का प्रवेश]

स्नातक—राजाधिराज की जय हो !

नन्द—स्वागत। अमात्य, वररुचि अभी नहीं आये, देखो तो ?

[प्रतिहारी का प्रस्थान और वररुचि के साथ प्रवेश]

वर०—जय हो देव, मैं स्वयं आ रहा था।

नन्द—तक्षशिला से लौटे हुए स्नातकों की परीक्षा लीजिये।

वर०—राजाधिराज, जिस गुरुकुल में मैं स्वयं परीक्षा देकर स्नातक हुआ हूँ, उसके प्रमाण की भी पुनः परीक्षा, अपने गुरु-जनों के प्रति अपमान करना है।

नन्द—किन्तु राजकोष का रुपया व्यर्थ ही स्नातकों को भेजने में लगता है या इसका सदुपयोग होता है, इसका निर्णय कैसे हो?

राक्षस—केवल सद्धर्म की शिक्षा ही मनुष्यों के लिये पर्याप्त है और वह तो मगध में ही मिल सकती है।

[चाणक्य का सहसा प्रवेश; त्रस्त दौवारिक पीछे-पीछे आता है।]

चाणक्य—परन्तु बौद्धधर्म की शिक्षा मानव-व्यवहार के लिये पूर्ण नहीं हो सकती, भले ही वह संघ-विहार में रहने-वालों के लिये उपयुक्त हो।

नन्द—तुम अनधिकार चर्चा करनेवाले कौन हो जी?

चाणक्य – तक्षशिला से लौटा हुआ एक स्नातक ब्राह्मण।

नन्द—ब्राह्मण ब्राह्मण!! जिधर देखो, कृत्या के समान इनकी शक्ति-ज्वाला धधक रही है।

चाणक्य—नहीं महाराज! ज्वाला कहाँ? भस्मावगुण्ठित अंगारे रह गये हैं!

राक्षस—तब भी इतना ताप!

चाणक्य—वह तो रहेगा ही। जिस दिन उसका अंत होगा, उसी दिन आर्यावर्त्त का ध्वंस होगा। यदि अमात्य ने ब्राह्मण-

नाश करने का विचार किया हो तो जन्मभूमि की भलाई के लिए उसका त्याग कर दें, क्योंकि राष्ट्र का शुभ-चिन्तन केवल ब्राह्मण ही कर सकते हैं। एक जीव की हत्या से डरनेवाले तपस्वी बौद्ध, सिर पर मँडरानेवाली विपत्तियों से, रक्त-समुद्र की आँधियों से, आर्य्यावर्त्त की रक्षा करने में असमर्थ प्रमाणित होंगे।

नन्द—ब्राह्मण! तुम बोलना नहीं जानते हो तो चुप रहना सीखो।

चाणक्य—महाराज, उसे सीखने के लिये मैं तक्षशिला गया था और मगध का सिर ऊँचा करके उसी गुरुकुल में मैंने अध्यापन का कार्य भी किया है। इसलिये मेरा हृदय यह नहीं मान सकता कि मैं मूर्ख हूँ।

नन्द—तुम चुप रहो।

चाणक्य—एक बात कह कर महाराज!

राक्षस—क्या?

चाणक्य—यवनों की विकट वाहिनी निषध-पर्वतमाला तक पहुँच गई है। तक्षशिलाधीश की भी उसमें अभिसंधि है। संभवतः समस्त आर्यावर्त्त पादाक्रांत होगा। उत्तरापथ में बहुत से छोटे-छोटे गणतंत्र हैं, वे उस सम्मिलित पारसीक यवन-बल को रोकने में असमर्थ होंगे। अकेले पर्वतेश्वर ने साहस किया है, इसलिए मगध को पर्वतेश्वर की सहायता करनी चाहिये।

कल्याणी—(प्रवेश करके)—पिताजी, मैं पर्वतेश्वर के गर्व की परीक्षा लूँगी। मैं वृषल-कन्या हूँ। उस क्षत्रिय को यह सिखा

दूँगी कि राजकन्या कल्याणी किसी क्षत्राणी से कम नहीं। सेना-पति को आज्ञा दीजिये कि आसन्न गांधार-युद्ध में मगध की एक सेना अवश्य जाय और मैं स्वयं उसका संचालन करूँगी। पराजित पर्वतेश्वर को सहायता देकर उसे नीचा दिखाऊँगी।

[नन्द हँसता है।]

राक्षस—राजकुमारी, राजनीति महलों में नहीं रहती, इसे हम लोगों के लिये छोड़ देना चाहिये। उद्धत पर्वतेश्वर अपने गर्व का फल भोगे और ब्राह्मण चाणक्य! परीक्षा देकर ही कोई साम्राज्य-नीति समझ लेने का अधिकारी नहीं हो जाता।

चाणक्य—सच है बौद्ध अमात्य, परंतु यवन आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मण का भेद न रक्खेंगे।

नन्द—वाचाल ब्राह्मण! तुम अभी चले जाओ, नहीं तो प्रतीहार तुम्हें धक्के देकर निकाल देंगे।

चाणक्य—राजाधिराज! मैं जानता हूँ कि प्रमाद में मनुष्य कठोर सत्य का भी अनुभव नहीं करता, इसीलिये मैंने प्रार्थना नहीं की—अपने अपहृत ब्रह्मस्व के लिये मैंने भिक्षा नहीं माँगी। क्यों? जानता था कि वह मुझे ब्राह्मण होने के कारण न मिलेगी, परंतु जब राष्ट्र के लिए········

राक्षस—चुप रहो। तुम चणक के पुत्र हो न, तुम्हारे पिता भी ऐसे ही हठी थे!

नन्द—क्या उसी विद्रोही ब्राह्मण की संतान! निकालो इसे अभी यहाँ से!

[प्रतिहारी आगे बढ़ता है; चंद्रगुप्त सामने आकर उसे रोकता है।]

चंद्र०—सम्राट्, मैं प्रार्थना करता हूँ कि गुरुदेव का अपमान न किया जाय। मैं भी उत्तरापथ से आ रहा हूँ। आर्य्य चाणक्य ने जो कुछ कहा है, वह साम्राज्य के हित की बात है। उस पर विचार किया जाय।

नन्द—कौन? सेनापति मौर्य्य का कुमार चंद्रगुप्त!

चंद्र०—हाँ देव, मैं युद्ध-नीति सीखने के लिये ही तक्षशिला भेजा गया था। मैंने अपनी आँखों गान्धार का उपप्लव देखा है, मुझे गुरुदेव के मत में पूर्ण विश्वास है। यह आगन्तुक आपत्ति पंचनद-प्रदेश तक ही न रह जायगी।

नन्द—अबोध युवक, तो क्या इसीलिये अपमानित होने पर भी मैं पर्वतेश्वर की सहायता करूँ? असम्भव है। तुम राजाज्ञाओं में बाधा न देकर शिष्टता सीखो। प्रतिहारी, निकालो इस ब्राह्मण को! यह बड़ा ही कुचक्री मालूम पड़ता है!

चंद्र०—राजाधिराज, ऐसा करके आप एक भारी अन्याय करेंगे और मगध के शुभचिन्तकों को शत्रु बनायेंगे।

राजकुमारी—पिताजी, चंद्रगुप्त पर ही दया कीजिये। एक बात उसकी भी मान लीजिये।

नन्द—चुप रहो, ऐसे उद्दंड को मैं कभी नहीं क्षमा करता। और सुनो चद्रगुप्त, तुम भी यदि इच्छा हो तो इसी ब्राह्मण के साथ जा सकते हो, अब कभी मगध में मुँह न दिखाना!

[प्रतिहारी दोनों को निकालना चाहता है, चाणक्य रुक कर कहता है]

सावधान नन्द! तुम्हारी धर्मान्धता से प्रेरित राजनीति आँधी
की तरह चलेगी, उसमें नन्द-वंश समूल उखड़ेगा। नियति-सुंदरी
के भावों में बल पड़ने लगा है। समय आ गया है कि शूद्र राज-
सिंहासन से हटाये जायँ और सच्चे क्षत्रिय मूर्धाभिषिक्त हों।

नन्द—यह समझ कर कि ब्राह्मण अवध्य है, तू मुझे भय
दिखलाता है! प्रतिहारी, इसकी शिखा पकड़ कर इसे बाहर करो!

[प्रतिहारी उसकी शिखा पकड़ कर घसीटता है, वह निश्शंक और
दृढ़ता से कहता है]

खींच ले ब्राह्मण की शिखा! शूद्र के अन्न से पले हुए कुत्ते
खींच ले! परन्तु यह शिखा नन्दकुल की काल-सर्पिणी है, व
तब तक न बंधन में होगी, जब तक नंद-कुल निःशेष न होगा।

नन्द—इसे बन्दी करो।

[चाणक्य बन्दी किया जाता है

६

सिन्धु-तट—अलका और मालविका

मालविका—राजकुमारी ! मैं देख आई, उद्भाण्ड में सिंधु पर सेतु बन रहा है। युवराज स्वयं उसका निरीक्षण करते हैं और मैंने उक्त सेतु का एक मानचित्र भी प्रस्तुत किया था। यह कुछ अधूरा-सा रह गया है, पर इसके देखने से कुछ आभास मिल जायगा।

अलका—सखी ! बड़ा दुःख होता है जब मैं यह स्मरण करती हूँ कि स्वयं महाराज का इसमें हाथ है। देखूं तेरा मानचित्र !

[मालविका मानचित्र देती है, अलका उसे देखने लगती है; एक यवन सैनिक का प्रवेश—वह मानचित्र अलका से लेना चाहता है।]

अलका—दूर हो दुर्विनीत दस्यु !—(मानचित्र अपनी कञ्चुकी में छिपा लेती है।)

यवन—यह गुप्तचर है, मैं इसे पहचानता हूँ। परन्तु सुन्दरी तुम कौन हो, जो इसकी सहायता कर रही हो ? अच्छा हो कि मुझे मानचित्र मिल जाय, और मैं इसे सप्रमाण वन्दी बना कर महाराज के सामने ले जाऊँ।

अलका—यह असंभव है। पहले तुम्हें बताना होगा कि तुम यहाँ किस अधिकार से यह अत्याचार किया चाहते हो ?

यवन—मैं ! मैं देवपुत्र-विजेता अलक्षेन्द्र का नियुक्त अनुचर हूँ और तक्षशिला की मित्रता का साक्षी हूँ। यह अधिकार मुझे गांधार-नरेश ने दिया है।

सिंहरण—(हँसता और रक्त पोंछता हुआ)—मेरा काम हो गया राजकुमारी ! मेरी नौका प्रस्तुत है, मैं जाता हूँ। परन्तु बड़ा अनर्थ हुआ चाहता है। क्या गांधार-नरेश किसी तरह न मानेंगे ?

अलका—कदापि नहीं। पर्व्वतेश्वर से उनका बद्धमूल बैर है।

सिंहरण—अच्छा देखा जायगा, जो कुछ होगा। देखिये, मेरी नौका आ रही है, अब विदा माँगता हूँ।

[सिन्धु में नौका आती है, घायल सिंहरण उस पर बैठता है, सिंहरण और अलका दोनों एक दूसरे को देखते हैं]

अलका—मालविका भी तुम्हारे साथ जायगी—तुम अकेले जाने योग्य इस समय नहीं हो।

सिंहरण—जैसी आज्ञा। बहुत शीघ्र फिर दर्शन करूँगा। जन्मभूमि के लिये ही यह जीवन है, फिर जब आप-सी सुकुमारियाँ इसकी सेवा में कटिबद्ध हैं, तब मैं पीछे कब रहूँगा। अच्छा, नमस्कार।

[मालविका नाव में बैठती है। अलका सतृष्ण नयनों से देखती हुई नमस्कार करती है। नाव ी जाती है।]

[चार सैनिकों के साथ यवन का प्रवेश]

यवन—निकल गया—मेरा अहेर ! यह सब प्रपंच इसी रमणी का है। इसको बन्दी बनाओ।

[सैनिक अलका को देख कर सिर झुकाते हैं।]

यवन—बन्दी करो सैनिक !

सैनिक—मैं नहीं कर सकता।

यवन—क्यों, गांधार-नरेश ने तुम्हें क्या आज्ञा दी है?

सैनिक—यही कि, आप जिसे कहें, उसे हम लोग बन्दी करके महाराज के पास ले चलें।

यवन—फिर विलम्ब क्यों!

[अलका संकेत से वर्जित करती है।]

सैनिक—हम लोगों की इच्छा।

यवन—तुम राजविद्रोही हो?

सैनिक—कदापि नहीं, पर यह काम हम लोगों से न हो सकेगा।

यवन—सावधान! तुमको इस आज्ञा-भंग का फल भोगना पड़ेगा। मैं स्वयं बन्दी बनाता हूँ।

[अलका की ओर बढ़ता है, सैनिक तलवार खींच लेते हैं]

यवन—(ठहर कर) यह क्या!

सैनिक—डरते हो क्या? कायर! स्त्रियों पर वीरता दिखाने में बड़े प्रबल हो और एक युवक के सामने से भाग निकले!

यवन—तो क्या, तुम राजकीय आज्ञा का स्वयं न पालन करोगे और न करने दोगे!

सैनिक—यदि साहस हो मरने का तो आगे बढ़ो।

अलका—(सैनिकों से)—ठहरो; विवाद करने का समय नहीं है।—(यवन से)—कहो, तुम्हारा अभिप्राय क्या है?

यवन—मैं तुम्हें बन्दी करना चाहता हूँ।

अलका—कहाँ ले चलोगे ?

यवन—गांधार-नरेश के पास ।

अलका—मैं चलती हूँ, चलो ।

[आगे अलका, पीछे यवन और सैनिक जाते हैं]

७

मगध का बन्दीगृह

चाणक्य—समीर की गति भी अवरुद्ध है, शरीर का फिर क्या कहना ? परंतु मन में इतने संकल्प और विकल्प ? एक वार निकलने पाता तो दिखा-देता कि इन दुर्बल हाथों में साम्राज्य उलटने की शक्ति है और ब्राह्मण के कोमल हृदय में कर्त्तव्य के लिये प्रलय की आँधी चला देने की भी कठोरता है। जकड़ी हुई लौह-शृंखले ? एक वार तू फूलों की माला बन जा और मैं मदोन्मत्त विलासी के समान तेरी सुंदरता को भंग कर दूँ। क्या रोने लगूँ ? इस निष्ठुर यंत्रणा की कठोरता से बिलबिलाकर दया की भिक्षा माँगूँ ? माँगूँ कि 'मुझे भोजन के लिये एक मुट्ठी चने जो देते हो, न दो, एक वार स्वतंत्र कर दो !' नहीं, चाणक्य ! ऐसा न करना। नहीं तो तू भी साधारण-सी ठोकर खाकर चूर-चूर हो जानेवाली एक बामी हो जायगा। तब मैं आज से प्रण करता हूँ कि दया किसी से न माँगूँगा, और अधिकार तथा अवसर मिलने पर किसी पर न करूँगा (ऊपर देख कर)—क्या कभी नहीं ? हाँ हाँ, कभी किसी पर नहीं। मैं प्रलय के समान अबाधगति और कर्त्तव्य में इन्द्र के वज्र के समान भयानक बनूँगा।

[किवाड़ खुलता है, वररुचि और राक्षस का प्रवेश]

राक्षस—स्नातक ! अच्छे तो हो ?

चाणक्य—बुरे कब थे बौद्ध अमात्य !

राक्षस—आज हम लोग एक काम से आये हैं। आशा है कि तुम अपनी हठवादिता से मेरा और अपना दोनों का अपकार न करोगे।

वररुचि—हाँ चाणक्य! अमात्य का कहना मान लो।

चाणक्य—भिक्षोपजीवी ब्राह्मण! क्या बौद्धों का संग करते-करते तुम्हें अपनी गरिमा का संपूर्ण विस्मरण हो गया? चाटुकारों के सामने हाँ में हाँ मिलाकर, जीवन की कठिनाइयों से बच कर, मुझे भी कुत्तों का पाठ पढ़ाना चाहते हो! भूलो मत, यदि राक्षस देवता हो जाय तो उसका विरोध करने के लिये मुझे ब्राह्मण से दैत्य बनना पड़ेगा।

वररुचि—ब्राह्मण हो भाई! त्याग और क्षमा के प्रमाण—तपोनिधि ब्राह्मण हो! इतना—

चाणक्य—त्याग और क्षमा, तप और विद्या, तेज और सम्मान के लिये है—लोहे और सोने के सामने सिर झुकाने के लिये हम लोग ब्राह्मण नहीं बने हैं। हमारी दी हुई विभूति से हमीं को अपमानित किया जाय, ऐसा नहीं हो सकता। कात्यायन! अब केवल पाणिनि से काम न चलेगा। अर्थशास्त्र और दण्ड-नीति की आवश्यकता है।

वररुचि—मैं वार्त्तिक लिख रहा हूं चाणक्य! उसी के लिये तुम्हें सहकारी बनाना चाहता हूँ। तुम इस बंदीगृह से निकलो।

चाणक्य—मैं लेखक नहीं हूँ कात्यायन! शास्त्र-प्रणेता हूँ, व्यवस्थापक हूँ।

राक्षस—अच्छा मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम विवाद न बढ़ा कर स्पष्ट उत्तर दो। तुम तक्षशिला में मगध के गुप्त प्रणिधि बन कर जाना चाहते हो या मृत्यु चाहते हो? तुम्हीं पर विश्वास करके क्यों भेजना चाहता हूँ, यह तुम्हारी स्वीकृति मिलने पर बताऊँगा।

चाणक्य—जाना तो चाहता हूँ तक्षशिला, पर तुम्हारी सेवा के लिये नहीं। और सुनो, पर्व्वतेश्वर का नाश करने के लिये तो कदापि नहीं।

राक्षस—यथेष्ट है, अधिक कहने की आवश्यकता नहीं।

वररुचि—विष्णुगुप्त! मेरा वार्तिक अधूरा रह जायगा। मान जाओ। तुमको पाणिनि के कुछ प्रयोगों का पता भी लगाना होगा जो उस शालातुरीय वैयाकरण ने लिखे हैं। फिर से एक बार तक्षशिला जाने पर ही उनका—

चाणक्य—मेरे पास पाणिनि में सिर खपाने का समय नहीं। भाषा ठीक करने से पहले मैं मनुष्यों को ठीक करना चाहता हूँ, समझे!

वररुचि—जिसने 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' सूत्र लिखा है, वह केवल वैयाकरण ही नहीं, दार्शनिक भी था। उसकी अवहेला!

चाणक्य—यह मेरी समझ में नहीं आता, मैं कुत्ता, साधारण युवक और इन्द्र को कभी एक सूत्र में नहीं बाँध सकता। कुत्ता कुत्ता ही रहेगा; इन्द्र, इन्द्र। सुनो वररुचि! मैं कुत्ते को कुत्ता ही

बनाना चाहता हूँ। नीचों के हाथ में इन्द्र का अधिकार चले जाने से जो सुख होता है, उसे मैं भोग रहा हूँ। तुम जाओ।]

वररुचि—क्या मुक्ति भी नहीं चाहते ?

चाणक्य—तुम लोगों के हाथ से वह भी नहीं।

राक्षस—अच्छा तो फिर तुम्हें अंधकूप में जाना होगा।

[चंद्रगुप्त का रक्तपूर्ण खड्ग लिये सहसा प्रवेश—चाणक्य का बंधन काटता है, राक्षस प्रहरियों को बुलाना चाहता है।]

चंद्रगुप्त—चुप रहो अमात्य ! शवों में बोलने की शक्ति नहीं, तुम्हारे प्रहरी जीवित नहीं रहे।

चाणक्य—मेरे शिष्य ! वत्स चंद्रगुप्त !

चंद्रगुप्त—चलिये गुरुदेव !—(खड्ग उठाकर राक्षस से)—यदि तुमने कुछ भी कोलाहल किया तो........(राक्षस बैठ जाता है, वररुचि गिर पड़ता है। चंद्रगुप्त चाणक्य को लिये निकलता हुआ किवाड़ बंद कर देता है।)

८

गांधार-नरेश का प्रकोष्ठ

[चिन्तायुक्त प्रवेश करते हुए राजा]

राजा—बूढ़ा हो चला, परंतु मन बूढ़ा न हुआ। बहुत दिनों तक तृष्णा को तृप्त करता रहा, पर तृप्त नहीं होती। आम्भीक तो अभी युवक है, उसके मन में महत्त्वाकांक्षा का होना अनिवार्य्य है। उसका पथ कुटिल है, गंधर्व-नगर की-सी सफलता उसे अपने पीछे दौड़ा रही है।—(विचार कर)—हाँ, ठीक तो नहीं है, पर उन्नति के शिखर पर नाक के सीधे चढ़ने में बड़ी कठिनता है—(ठहर कर)—रोक दूँ। अब से भी अच्छा है, जब वे घुस आवेंगे तब तो गांधार को भी वही कष्ट भोगना पड़ेगा जो हम दूसरों को देना चाहते हैं।

[अलका के साथ यवन और रक्षकों का प्रवेश]

राजा—बेटी! अलका!

अलका—हाँ महाराज, अलका।

राजा—नहीं, कहो—हाँ पिताजी। अलका, कब तक तुम्हें सिखाता रहूँ!

अलका—नहीं महाराज!

राजा—फिर महाराज! पागल लड़की। कह, पिताजी!

अलका—वह कैसे महाराज! न्यायाधिकरण पिता-सम्बोधन से पक्षपाती हो जायगा।

राजा—यह क्या?

यवन—महाराज ! मुझे नहीं मालूम कि ये राजकुमारी हैं अन्यथा, मैं इन्हें वन्दी न बनाता।

राजा—सिल्यूकस ! तुम्हारा मुख कंधे पर से बोल रहा है यवन ! यह मेरी राजकुमारी अलका है। आ बेटी—(उसकी ओर हाथ बढ़ाता है, वह अलग हट जाती है।)

अलका—नहीं महाराज ! पहले न्याय कीजिये।

यवन—उद्भाण्ड पर बँधनेवाले पुल का मानचित्र इन्होंने एक स्त्री से बनवाया है, और जब मैं उसे माँगने लगा तो एक युवक को देकर इन्होंने उसे हटा दिया। मैंने यह समाचार आप तक निवेदन किया और आज्ञा मिली कि वे लोग बंदी किये जाँय। परन्तु वह युवक निकल गया।

राजा—क्यों बेटी ! मानचित्र देखने की इच्छा हुई थी ?—(सिल्यूकस से)—तो क्या चिन्ता है, जाने दो। मानचित्र तुम्हारा पुल बँधना रोक नहीं सकता।

अलका—नहीं महाराज ! मानचित्र एक विशेष कार्य्य से बनवाया गया है—वह गांधार को लगी हुई कालिख छुड़ाने के लिये...।

राजा—सो तो मैं जानता हूँ बेटी ! तुम क्या कोई ना-समझ हो।

[वेग से आम्भीक का प्रवेश]

आम्भीक—नहीं पिताजी, आपके राज्य में एक भयानक षड्यन्त्र चल रहा है और तक्षशिला का गुरुकुल उसका केन्द्र है। अलका उस रहस्यपूर्ण कुचक्र की कुंजी है।

राजा—क्यों अलका ! यह बात सही है ?

अलका—सत्य है। महाराज ! जिस उन्नति की आशा में आम्भीक ने यह नीच कर्म किया है, उसका पहला फल यह है कि आज मैं वन्दिनी हूँ, सम्भव है कल आप होंगे ! और परसों गांधार की जनता बेगार करेगी। उनका मुखिया होगा आपका वंश-उज्ज्वलकारी आम्भीक !

यवन—संधि के अनुसार देवपुत्र का साम्राज्य और गांधार मित्र-राज्य हैं, यह व्यर्थ की बात है।

आम्भीक—सिल्यूकस ! तुम विश्राम करो। हम इसको समझ कर तुमसे मिलते हैं।

[यवन का प्रस्थान, रक्षकों का दूसरी ओर जाना]

राजा—परन्तु आम्भीक ! राजकुमारी वंदिनी बनाई जाय, वह भी मेरे ही सामने ! उसके लिये एक यवन दण्ड की व्यवस्था करे, यही तो तुम्हारे उद्योगों का फल है !

अलका—महाराज ! मुझे दण्ड दीजिये, कारागार में भेजिये, नहीं तो मैं मुक्त होने पर भी यही करूँगी। कुलपुत्रों के रक्त से आर्यावर्त्त की भूमि सिंचेगी। दानवी बन कर जननी जन्म-भूमि अपनी सन्तान को खायगी। महाराज ! आर्यावर्त्त के सब बच्चे आम्भीक-जैसे नहीं होंगे। वे इसकी मान-प्रतिष्ठा और रक्षा के लिए तिल-तिल कट जाँयगे। स्मरण रहे, यवनों की विजयवाहिनी के आक्रमण को प्रत्यावर्त्तन बनानेवाले यही भारत-संतान होंगे। तब बचे हुए क्षतांग वीर, गांधार को—भारत के

द्वार-रक्षक को—विश्वासघाती के नाम से पुकारेंगे और उसमें नाम लिया जायगा मेरे पिता का! आह। उसे सुनने के लिये मुझे जीवित न छोड़िये, दण्ड दीजिये—मृत्युदण्ड!

आम्भीक—इसे उन सबों ने खूब बहकाया है। राजनीति के खेल यह क्या जाने? पिताजी, पर्व्वतेश्वर—उद्दंड पर्व्वतेश्वर ने—जो मेरा अपमान किया है, उसका प्रतिशोध!

राजा—हाँ बेटी! उसने स्पष्ट कह दिया है कि, कायर आम्भीक से मैं अपने लोक-विश्रुत कुल की कुमारी का व्याह न करूँगा। और भी, उसने वितस्ता के इस पार अपनी एक चौकी बना दी है, जो प्राचीन संधियों के विरुद्ध है।

अलका—तब महाराज! उस प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए जो लड़ कर मर नहीं गया, वह कायर नहीं तो और क्या है?

आम्भीक—चुप रहो अलका!

राजा—तुम दोनों ही ठीक बातें कह रहे हो, फिर मैं क्या करूँ?

अलका—तो महाराज! मुझे दण्ड दीजिए, क्योंकि राज्य का उत्तराधिकारी आम्भीक ही उसके शुभाशुभ की कसौटी है; मैं भ्रम में हूँ।

राजा—मैं यह कैसे कहूँ!

अलका—तब मुझे आज्ञा दीजिये, मैं राजमन्दिर छोड़कर चली जाऊँ।

राजा—कहाँ जाओगी और क्या करोगी अलका?

अलका—गांधार में विद्रोह मचाऊँगी!

राजा—नहीं अलका, तुम ऐसा न करोगी।

अलका—करूँगी महाराज, अवश्य करूँगी।

राजा—फिर मैं पागल हो जाऊँगा! मुझे तो विश्वास नहीं होता।

आम्भीक—और तब अलका, मैं अपने हाथों से तुम्हारी हत्या करूँगा।

राजा—नहीं आम्भीक! तुम चुप रहो। सावधान! अलका के शरीर पर जो हाथ उठाना चाहता हो, उसे मैं द्वन्द्व-युद्ध के लिये ललकारता हूँ।

[आम्भीक सिर नीचा कर लेता है।]

अलका—तो मैं जाती हूँ पिता जी!

राजा—(अन्यमनस्क भाव से सोचता हुआ) – जाओ।

[अलका चली जाती है।]

राजा—आम्भीक!

आम्भीक—पिताजी!

राजा—लौट आओ।

आम्भीक—इस अवस्था में तो लौट आता, परन्तु वे यवन-सैनिक छाती पर खड़े हैं। पुल बँध चुका है। नहीं तो पहले गांधार का ही नाश होगा।

राजा—तब?—(निःश्वास लेकर)—जो होना हो सो हो। पर एक बात आम्भीक! आज से मुझसे कुछ न कहना। जो उचित समझो करो। मैं अलका को खोजने जाता हूँ। गांधार जाने और तुम जानो।

[वेग से प्रस्थान]

९

पर्व्वतेश्वर की राजसभा

पर्व्वतेश्वर—आर्य्य चाणक्य! आपकी बातें ठीक-ठीक नहीं समझ में आतीं

चाणक्य—कैसे आवेंगी, मेरे पास केवल बात ही है न, अभी कुछ कर दिखाने में असमर्थ हूँ।

पर्व्वतेश्वर—परन्तु इस समय मुझे यवनों से युद्ध करना है, मैं अपना एक भी सैनिक मगध नहीं भेज सकता।

चाणक्य—निरुपाय हूँ। लौट जाऊँगा। नहीं तो मगध की लक्षाधिक सेना आगामी यवन-युद्धमें पौरव पर्व्वतेश्वर की पताका के नीचे युद्ध करती। वही मगध, जिसने सहायता माँगने पर पञ्चनद का तिरस्कार किया था।

पर्व्वतेश्वर—हाँ, तो इस मगध-विद्रोह का केन्द्र कौन होगा? नन्द के विरुद्ध कौन खड़ा होता है?

चाणक्य—मौर्य्य-सेनानी का पुत्र वीर चन्द्रगुप्त; जो मेरे साथ यहाँ आया है।

पर्व्वतेश्वर—पिप्पली-कानन के मौर्य्य भी तो वैसे ही वृपल हैं; उनको राज्यसिंहासन दीजियेगा?

चाणक्य—आर्य्य क्रियाओं का लोप हो जाने से इन लोगों को वृपलत्व मिला; वस्तुतः ये क्षत्रिय हैं। बौद्धों के प्रभाव में आने से इनके श्रौत संस्कार छूट गये हैं अवश्य, परन्तु इनके

क्षत्रिय होने में कोई सन्देह नहीं। और, महाराज! धर्म्म के नियामक ब्राह्मण हैं, मुझे पात्र देख कर उसका संस्कार करने का अधिकार है। ब्राह्मणत्व एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि-वैभव है। वह अपनी रक्षा के लिये, पुष्टि के लिये और सेवा के लिये इतर वर्णों का संघटन कर लेगा। राजन्य-संस्कृति से पूर्ण मनुष्य को मूर्धाभिषिक्त बनाने में दोष ही क्या है?

पर्व्वतेश्वर—(हँस कर)—यह आपका सुविचार नहीं है ब्रह्मन्।

चाणक्य - वशिष्ठ का ब्राह्मणत्व जब पीड़ित हुआ था, तब पल्लव, दरद, काम्बोज आदि क्षत्रिय बने थे। राजन्, यह कोई नयी बात नहीं है।

पर्व्वतेश्वर—वह समर्थ ऋषियों की बात है।

चाणक्य—भविष्य इसका विचार करता है कि ऋषि किन्हें कहते हैं। क्षत्रियाभिमानी पौरव! तुम इसके निर्णायक नहीं हो सकते।

पर्व्वतेश्वर—शूद्र-शासित राष्ट्र में रहनेवाले ब्राह्मण के मुख से यह बात शोभा नहीं देती।

चाणक्य—तभी तो ब्राह्मण मगध को क्षत्रिय-शासन में ले आना चाहता है। पौरव! जिसके लिये कहा गया है, कि क्षत्रिय के शस्त्र धारण करने पर आर्त्त वाणी नहीं सुनायी पड़नी चाहिए, मौर्य्य चन्द्रगुप्त वैसा ही क्षत्रिय प्रमाणित होगा।

पर्व्वतेश्वर—कल्पना है।

चाणक्य—प्रत्यक्ष होगी। और स्मरण रखना, आसन्न यवन-युद्ध में, शौर्य्य गर्व से तुम पराभूत होगे। यवनों के द्वारा समग्र आर्य्यावर्त्त पादाक्रांत होगा। उस समय तुम मुझे स्मरण करोगे।

पर्व्वतेश्वर—केवल अभिशाप-अस्त्र लेकर ही तो ब्राह्मण लड़ते हैं। मैं इससे नहीं डरता। परन्तु डरानेवाले ब्राह्मण! तुम मेरी सीमा के बाहर हो जाओ!

चाणक्य—(ऊपर देख कर)—रे पददलित ब्राह्मणत्व! देख, शूद्र ने निगड़-बद्ध किया, क्षत्रिय निर्वासित करता है, तब जल—एक बार अपनी ज्वाला से जल! उसकी चिनगारी से तेरे पोषक वैश्य, सेवक शूद्र और रक्षक क्षत्रिय उत्पन्न हों। जाता हूँ पौरव!

१०

कानन-पथ में अलका

अलका—चली जा रही हूँ। अनन्त पथ है, कहीं पान्थशाला नहीं और न पहुँचने का निर्दिष्ट स्थान है। शैल पर से गिरा दी गई स्रोतस्विनी के सदृश अविराम भ्रमण, ठोकरें और तिरस्कार! कानन में कहाँ चली जा रही हूँ? (सामने देखकर)—अरे! यवन!! [शिकारी के वेश में सिल्यूकस का प्रवेश]

सिल्यूकस—तुम कहाँ, सुन्दरी राजकुमारी!

अलका—मेरा देश है, मेरे पहाड़ हैं, मेरी नदियाँ हैं और मेरे जंगल हैं। इस भूमि के एक-एक परमाणु मेरे हैं और मेरे शरीर के एक-एक क्षुद्र अंश उन्हीं परमाणुओं के बने हैं। फिर मैं और कहाँ जाऊँगी यवन?

सिल्यूकस—यहाँ तो तुम अकेली हो सुन्दरी!

अलका—सो तो ठीक है।—(दूसरी ओर देखकर सहसा)—परंतु देखो वह सिंह आ रहा है!

[सिल्यूकस उधर देखता है, अलका दूसरी ओर निकल जाती है]

सिल्यूकस—निकल गयी!—(दूसरी ओर जाता है)

[चाणक्य और चन्द्रगुप्त का प्रवेश]

चाणक्य—वत्स, तुम बहुत थक गये होगे।

चन्द्रगुप्त—आर्य्य! नसों ने अपने बंधन ढीले कर दिये हैं, शरीर अवसन्न हो रहा है; प्यास भी लगी है।

चाणक्य—और कुछ दूर न चल सकोगे?

चन्द्रगुप्त - जैसी आज्ञा हो।

चाणक्य—पास ही सिन्धु लहराता होगा, उसके तट पर ही विश्राम करना ठीक होगा।

[चन्द्रगुप्त चलने के लिए पैर बढ़ाता है, फिर बैठ जाता है]

चाणक्य—(उसे पकड़ कर)—सावधान, चन्द्रगुप्त!

चन्द्रगुप्त—आर्य्य! प्यास से कण्ठ सूख रहा है, चक्कर आ रहा है!

चाणक्य—तुम विश्राम करो, मैं अभी जल लेकर आता हूं।—(प्रस्थान)

[चन्द्रगुप्त पसीने से तर लेट जाता है। एक व्याघ्र समीप आता दिखाई पड़ता है। सिल्यूकस प्रवेश करके धनुष सँभाल कर तीर चलाता है। व्याघ्र मरता है। सिल्यूकस को चन्द्रगुप्त को चैतन्य करने की चेष्टा! चाणक्य का जल लिये आना।]

सिल्यूकस—थोड़ा जल, इस सत्त्वपूर्ण पथिक की रक्षा करने के लिए थोड़ा जल चाहिये।

चाणक्य—(जल के छींटे देकर)—आप कौन हैं?

[चन्द्रगुप्त स्वस्थ होता है]

सिल्यूकस—यवन सेनापति। तुम कौन हो?

चाणक्य—एक ब्राह्मण।

सिल्यूकस—यह तो कोई बड़ा श्रीमान् पुरुष है। ब्राह्मण! तुम इसके साथी हो?

चाणक्य—हाँ, मैं इस राजकुमार का गुरु हूँ, शिक्षक हूँ।

सिल्यूकस—कहाँ निवास है ?

चाणक्य—यह चंद्रगुप्त मगध का एक निर्वासित राजकुमार है।

सिल्यूकस—(कुछ विचारता है)—अच्छा अभी तो मेरे शिविर में चलो, विश्राम करके फिर कहीं जाना।

चन्द्रगुप्त—यह सिंह कैसे मरा ? ओह, प्यास से मैं हतचेत हो गया था—आपने मेरे प्राणों की रक्षा की, मैं कृतज्ञ हूँ। आज्ञा दीजिये, हम लोग फिर उपस्थित होंगे; निश्चय जानिये।

सिल्यूकस—जब तुम अचेत पड़े थे, तब यह तुम्हारे पास बैठा था। मैंने विपद समझ कर इसे मार डाला मैं यवन-सेनापति हूँ।

चन्द्रगुप्त—धन्यवाद ! भारतीय कृतघ्न नहीं होते। सेनापति ! मैं आपका अनुगृहीत हूँ, अवश्य आप के पास आऊँगा।

[तीनों जाते हैं, अलका का प्रवेश।]

अलका—आर्य्य चाणक्य और चन्द्रगुप्त—ये भी यवनों के साथी ! जब आँधी और करका-वृष्टि, अवर्षण और दावाग्नि का प्रकोप हो, तब देश की हरी-भरी खेती का रक्षक कौन है ? शून्य व्योम प्रश्न को बिना उत्तर दिये लौटा देता है। ऐसे लोग भी आक्रमणकारियों के चंगुल में फंस रहे हों, तब रक्षा की क्या

आशा ! झेलम के पार सेना उतरना चाहती है। उन्मत्त पर्व्वतेश्वर अपने विचारों में मग्न है। गांधार छोड़ कर चलूँ, नहीं, एक बार महात्मा दाण्ड्यायन को नमस्कार कर लूँ, उस शांति-संदोह से कुछ प्रसाद लेकर तब अन्यत्र जाऊँगी।

[जाती है]

११

सिन्धु-तट पर दाण्ड्यायन का आश्रम

दाण्ड्यायन—[पवन एक क्षण विश्राम नहीं लेता, सिन्धु की जलधारा वही जा रही है, बादलों के नीचे पक्षियों का झुण्ड उड़ा जा रहा है, प्रत्येक परमाणु न जाने किस आकर्षण में खिंचे चले जा रहे हैं। जैसे काल अनेक रूप में चल रहा है—यही तो...]

[एनिसाक्रीटीज़ का प्रवेश ।]

एनि०—महात्मन् !

दाण्ड्या०—चुप रहो, सब चले जा रहे हैं, तुम भी चले जाओ। अवकाश नहीं, अवसर नहीं।

एनि०—आप से कुछ ......

दाण्ड्या०—[मुझसे कुछ मत कहो। कहो तो अपने आप ही कहो, जिसे आवश्यकता होगी सुन लेगा। देखते हो, कोई किसी की सुनता है ! मैं कहता हूं—सिंधु के एक बिन्दु ! धारा में न बह कर मेरी बात सुनने के लिये ठहर जा।—वह सुनता है ? ठहरता है ? कदापि नहीं।]

एनि०—परन्तु देवपुत्र ने......

दाण्ड्या०—देवपुत्र ?

एनि०—देवपुत्र जगद्विजेता सिकंदर ने आपका स्मरण किया है। आपका यश सुन कर आपसे कुछ उपदेश ग्रहण करने की उनकी बलवती इच्छा है।

[एक ओर से अलका, दूसरी ओर से चाणक्य और चन्द्रगुप्त का प्रवेश। सब वन्दना करके सविनय बैठते हैं]

अलका—देव ! मैं गांधार छोड़ कर जाती हूँ।

दाण्ड्यायन—क्यों अलके, तुम गांधार की लक्ष्मी हो, ऐसा क्यों ?

अलका—ऋषे ! यवनों के हाथ स्वाधीनता बेंच कर उनके दान से जीने की शक्ति मुझ में नहीं।

दाण्ड्यायन—तुम उत्तरापथ की लक्ष्मी हो, तुम अपना प्राण बचा कर कहाँ जाओगी ? – (कुछ विचार कर)— अच्छा जाओ देवि ! तुम्हारी आवश्यकता है। मंगलमय विभु अनेक अमंगलों में कौन-कौन कल्याण छिपाये रहता है, हम सब उसे नहीं समझ सकते। परन्तु जब तुम्हारी इच्छा हो, निस्संकोच चली आना।

अलका—देव, हृदय में सन्देह है !

दाण्ड्यायन—क्या अलका ?

अलका—ये दोनों महाशय, जो आपके सम्मुख बैठे हैं— जिन पर पहले मेरा पूर्ण विश्वास था; वे ही अब यवनों के अनुगत क्यों होना चाहते हैं ?

[दाण्ड्यायन चाणक्य की ओर देखता है और चाणक्य कुछ विचारने लगता है।]

चाणक्य—राजकुमारी! उस परिस्थिति पर आपने विचार नहीं किया है, आपकी शंका निर्मूल है।

दाण्ड्यायन—सन्देह न करो अलका! कल्याणकृत को पूर्ण विश्वासी होना पड़ेगा। विश्वास सुफल देगा, दुर्गति नहीं।

[यवन-सैनिक का प्रवेश]

यवन—देवपुत्र आपकी सेवा में आया चाहते हैं, क्या आज्ञा है?

दाण्ड्यायन—मैं क्या आज्ञा दूँ सैनिक! मेरा कोई रहस्य नहीं, निभृत मंदिर नहीं, यहाँ पर सब का प्रत्येक क्षण स्वागत है।

[सैनिक जाता है।]

अलका—तो मैं जाती हूँ, आज्ञा हो।

दाण्ड्यायन—कोई आतंक नहीं है अलका! ठहरो तो।

चाणक्य—महात्मन्, हम लोगों को क्या आज्ञा है? किसी दूसरे समय उपस्थित हों?

दाण्ड्यायन—चाणक्य! तुमको तो कुछ दिनों तक इस स्थान पर रहना होगा, क्योंकि सब विद्या के आचार्य होने पर भी तुम्हें उसका फल नहीं मिला—उद्वेग नहीं मिटा। अभी तक तुम्हारे हृदय में हलचल मची है, यह अवस्था संतोषजनक नहीं।

[सिकन्दर का सिल्यूकस, कार्नेलिया, फिलिपास, [illegible] इत्यादि सहचरों के साथ प्रवेश, सिकन्दर नमस्कार करता है, सब बैठते हैं।]

दाण्ड्यायन—स्वागत अलक्षेन्द्र! तुम्हें सुबुद्धि मिले।

सिकन्दर—महात्मन्! अनुगृहीत हुआ, परंतु मुझे कुछ और आशीर्वाद चाहिये।

दाण्ड्यायन—मैं और आशीर्वाद देने में असमर्थ हूँ। क्योंकि इसके अतिरिक्त जितने आशीर्वाद होंगे, वे अमंगलजनक होंगे।

सिकन्दर—मैं आपके मुख से जय सुनने का अभिलाषी हूँ।

दाण्ड्यायन—जयघोष तुम्हारे चारण करेंगे; हत्या, रक्तपात और अग्निकाण्ड के लिये उपकरण जुटाने में मुझे आनन्द नहीं। विजय-तृष्णा का अंत पराभव में होता है, अलक्षेन्द्र! राजसत्ता सुव्यवस्था से बढ़े तो बढ़ सकती है, केवल विजयों से नहीं। इसलिए अपनी प्रजा के कल्याण में लगो।

सिकन्दर—अच्छा—(चन्द्रगुप्त को दिखा कर)—यह तेजस्वी युवक कौन है?

सिल्यूकस—यह मगध का एक निर्वासित राजकुमार है।

सिकन्दर—मैं आपका स्वागत करने के लिये अपने शिविर में निमंत्रित करता हूँ।

चन्द्रगुप्त—अनुगृहीत हुआ। आर्य्य लोग किसी निमंत्रण को अस्वीकार नहीं करते।

सिकन्दर—(सिल्यूकस से)-तुमसे इनसे कब परिचय हुआ?

सिल्यूकस—इनसे तो मैं पहले ही मिल चुका हूँ।

चन्द्रगुप्त—आपका उपकार मैं भूला नहीं हूँ। आपने व्याघ्र से मेरी रक्षा की थी। जब मैं अचेत पड़ा था।

सिकन्दर—अच्छा, तो आप लोग पूर्व-परिचित भी हैं! अब तो सेनापति, इनके आतिथ्य का भार आप ही पर रहा।

सिल्यूकस—जैसी आज्ञा।

सिकन्दर-(महात्मा से)--महात्मन्! लौटती बार आपका फिर दर्शन करूँगा, जब भारत-विजय कर लूँगा।

दाण्ड्यायन—अलक्षेन्द्र, सावधान!-(चंद्रगुप्त को दिखा कर)-देखो, यह भारत का भावी सम्राट् तुम्हारे सामने बैठा है।

[सब स्तब्ध होकर चन्द्रगुप्त को देखते हैं और चन्द्रगुप्त आश्चर्य से कार्नेलिया को देखने लगता है। एक दिव्य आलोक।]

[पटाक्षेप]

द्वितीय अंक

उद्भाण्ड में सिन्धु के किनारे ग्रीक शिविर के पास वृक्ष के नीचे कार्नेलिया बैठी हुई

कार्नेलिया—सिन्धु का यह मनोहर तट जैसे मेरी आँखों के सामने एक नया चित्र-पट उपस्थित कर रहा है। इस वातावरण से धीरे-धीरे उठती हुई प्रशांत स्निग्धता जैसे हृदय में घुस रही है। लम्बी यात्रा करके, जैसे मैं वहीं पहुँच गई हूँ, जहाँ के लिये चली थी। यह कितना निसर्ग सुन्दर है, कितना रमणीय है। हाँ, आज वह भारतीय संगीत का पाठ देखूँ, भूल तो नहीं गई ?

[गाती है]

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर—नाच रही तरुशिखा मनोहर।
छिटका जीवन हरियाली पर—मङ्गल कुंकुम सारा।
लघु सुरधनु से पंख पसारे—शीतल मलय समीर सहारे।
उड़ते खग जिस ओर मुँह किये—समझ नीड़ निज प्यारा।
बरसाती आँखों के बादल—बनते जहाँ भरे करुणा जल।
लहरें टकरातीं अनन्त की—पाकर जहाँ किनारा।
हेम कुम्भ ले उषा सवेरे—भरती ढुलकाती सुख मेरे।
मदिर ऊँघते रहते जब—जग कर रजनीभर तारा।

फिलिप्स—(प्रवेश करके)—कैसा मधुर गीत है कार्नेलिया,

तुमने तो भारतीय संगीत पर पूरा अधिकार कर लिया है, चाहे हम लोगों को भारत पर अधिकार करने में अभी विलम्ब हो!

कार्ने०—फिलिप्स! यह, तुम हो! आज दारा की कन्या वाल्हीक जायगी?

फिलि०—दारा की कन्या! नहीं कुमारी, सम्राज्ञी कहो।

कार्ने०—असम्भव है फिलिप्स! ग्रीक लोग केवल देशों को विजय करके समझ लेते हैं कि लोगों के हृदयों पर भी अधिकार कर लिया। वह देवकुमारी-सी सुन्दर बालिका सम्राज्ञी कहने पर तिलमिला जाती है। उसे यह विश्वास है कि वह एक महान् साम्राज्य की लूट में मिली हुई दासी है, प्रणय-परिणीता पत्नी नहीं।

फिलि०—कुमारी! प्रणय के सम्मुख क्या साम्राज्य तुच्छ है?

कार्ने०—यदि प्रणय हो।

फिलि०—प्रणय को तो मेरा हृदय पहचानता है।

कार्ने०—(हँस कर) ओहो! यह तो बड़ी विचित्र बात है!

फिलि०—कुमारी, क्या तुम मेरे प्रेम की हँसी उड़ाती हो?

कार्ने०—नहीं सेनापति! तुम्हारा उत्कट प्रेम बड़ा भयानक होगा, उससे तो डरना चाहिए।

फिलि०—(गम्भीर होकर)—मैं पूछने आया हूँ कि आगामी युद्धों से दूर रहने के लिए शिविर की सब स्त्रियाँ स्कन्धावार में सम्राज्ञी के साथ जा रही हैं, क्या तुम भी चलोगी?

कार्ने०—नहीं, संभवतः पिताजी को यहीं रहना होगा, इसलिये मेरे जाने की आवश्यकता नहीं।

फिलि०—(कुछ सोच कर)—कुमारी! न जाने फिर कब दर्शन हों, इसलिये एक वार इन कोमल करों को चूमने की आज्ञा दो।

कार्ने०—तुम मेरा अपमान करने का साहस न करो फिलिप्स!

फिलि०—प्राण देकर भी नहीं कुमारी! परन्तु प्रेम अन्धा है।

कार्ने०—तुम अपने अन्धेपन से दूसरे को ठुकराने का लाभ नहीं उठा सकते फिलिप्स!

फिलिप्स—(इधर-उधर देख कर)—यह नहीं हो सकता—

[कार्नेलिया का हाथ पकड़ना चाहता है, वह चिल्लाती है—रक्षा करो! रक्षा करो!—चन्द्रगुप्त प्रवेश करके फिलिप्स की गर्दन पकड़ कर दबाता है, वह गिर कर क्षमा माँगता है, चन्द्रगुप्त छोड़ देता है।]

कार्ने०—धन्यवाद आर्य्यवीर!

फिलि०—(लज्जित होकर)—कुमारी, प्रार्थना करता हूँ कि इस घटना को भूल जाओ, क्षमा करो।

कार्ने०—क्षमा तो कर दूँगी, परन्तु भूल नहीं सकती फिलिप्स। तुम अभी चले जाओ।

[फिलिप्स नतमस्तक जाता है।

चंद्रगुप्त—चलिये, आपको शिविर के भीतर पहुँचा दूँ।

कार्ने०—पिताजी कहाँ हैं? उनसे यह बात कह देनी होगी, यह घटना······नहीं, तुम्हीं कह देना।

चंद्रगुप्त—ओह, वे मुझे बुला गये हैं, मैं जाता हूँ, उनसे कह दूँगा।

कार्ने०—आप चलिये, मैं आती हूँ।

[चन्द्रगुप्त का प्रस्थान]

कार्ने०—एक घटना हो गई, फिलिप्स ने विनती की उसे भूल जाने की, किन्तु उस घटना से और भी किसी का सम्बन्ध है, उसे कैसे भूल जाऊँ। उन दोनों में शृंगार और रौद्र का संगम है। वह भी आह, कितना आकर्षक है! कितना तरंग-संकुल है! इसी चंद्रगुप्त के लिये न उस साधु ने भविष्यवाणी की है—भारत-सम्राट् होने की! उसमें कितनी विनयशील वीरता है!

[प्रस्थान

[कुछ सैनिकों के साथ सिकंदर का प्रवेश]

सिकंदर—विजय करने की इच्छा क्लांति से मिलती जा रही है। हम लोग इतने बड़े आक्रमण के समारम्भ में लगे हैं और यह देश जैसे सोया हुआ है, लड़ना जैसे इनके जीवन का उद्वेग-जनक अंश नहीं। अपने ध्यान में दार्शनिक के सदृश वे निमग्न हैं। सुनते हैं, पौरव ने केवल झेलम के पास कुछ सेना प्रतिरोध करने के लिये या केवल देखने के लिये रख छोड़ी है। हम लोग जब पहुँच जायँगे, तब वे लड़ लेंगे!

एनि०—मुझे तो ये लोग आलसी मालूम पड़ते हैं।

सिकंदर—नहीं नहीं, यहाँ दार्शनिक की परीक्षा तो तुम कर चुके—दाण्ड्यायन को देखा न! थोड़ा ठहरो, यहाँ के वीरों का भी परिचय मिल जायगा। यह अद्भुत देश है।

एनि०—परन्तु आम्भीक तो अपनी प्रतिज्ञा का सच्चा निकला—प्रबंध तो उसने अच्छा कर रक्खा है।

सिकंदर—लोभी है! सुना है कि उसकी एक बहन चिढ़ कर संन्यासिनी हो गई है।

एनि०—मुझे विश्वास नहीं होता, इसमें कोई रहस्य होगा। पर एक बात कहूँगा, ऐसे पथ में साम्राज्य की समस्या हल करना कहाँ तक ठीक है? क्यों न शिविर में ही चला जाय?

सिकंदर—एनिसाक्रेटीज, फिर तो परसिपोलिस का राजमहल छोड़ने की आवश्यकता न थी। यहाँ एकांत में मुझे कुछ ऐसी बातों पर विचार करना है, जिन पर भारत-अभियान का भविष्य निर्भर है। मुझे उस नंगे ब्राह्मण की बातों से बड़ी आशंका हो रही है, भविष्यवाणियाँ प्रायः सत्य होती हैं।

[एक ओर से फिलिप्स, आम्भीक; दूसरी ओर से सिल्यूकस और चन्द्रगुप्त का प्रवेश]

सिकंदर—कहो फिलिप्स! तुम्हें क्या कहना है?

फिलि०—आम्भीक से पूछ लिया जाय।

आम्भीक—यहाँ एक षड्यंत्र चल रहा है।

फिलि०—और उसके सहायक हैं सिल्यूकस।

सिल्यूकस—(क्रोध और आश्चर्य से)—इतनी नीचता! अभी उस लज्जाजनक अपराध का प्रकट करना बाकी ही रहा—उलटा अभियोग! प्रमाणित करना होगा फिलिप्स! नहीं तो खड्ग इसका न्याय करेगा।

सिकंदर—उत्तेजित न हो सिल्यूकस!

फिलि०—तलवार तो कभी का न्याय कर देती, परंतु देवपुत्र का भी मान लेना आवश्यक था! नहीं तो ऐसे निर्लज्ज विद्रोही की हत्या करना भी पाप नहीं, पुण्य है।

[सिल्यूकस तलवार खींचता है]

सिकंदर—तलवार खींचने से अच्छा होता कि तुम अभियोग को निर्मूल प्रमाणित करने की चेष्टा करते। बतलाओ, तुमने चन्द्रगुप्त के लिये अब क्या सोचा?

सिल्यूकस—चन्द्रगुप्त ने अभी-अभी कार्नेलिया को इस नीच फिलिप्स के हाथ से अपमानित होने से बचाया है और मैं स्वयं यह अभियोग आपके सामने उपस्थित करनेवाला था।

सिकंदर—परंतु साहस नहीं हुआ, क्यों सिल्यूकस!

फिलि०—क्यों साहस होता—इनकी कन्या दाण्ड्यायन के आश्रम पर भारतीय दर्शन पढ़ने जाती है, भारतीय संगीत सीखती है, वहाँ पर विद्रोहकारिणी अलका भी आती है! और, चन्द्रगुप्त के लिए यह जनरव फैलाया गया है कि यही भारत का भावी सम्राट् होगा!

सिल्यूकस—रोक, अपनी अबाधगति से चलने वाली जीभ रोक !

सिकंदर—ठहरो सिल्यूकस ! तुम अपने को विचाराधीन समझो। हाँ तो चन्द्रगुप्त ! मुझे तुमसे कुछ पूछना है।

चंद्रगुप्त—क्या है ?

सिकन्दर—सुना है कि मगध का वर्तमान शासक एक नीच-जन्मा जारज-सन्तान है। उसकी प्रजा असंतुष्ट है। और तुम उस राज्य को हस्तगत करने का प्रयत्न कर रहे हो ?

चन्द्रगुप्त—हस्तगत ! नहीं, उसका शासन बड़ा क्रूर हो गया है, मैं मगध का उद्धार करना चाहता हूँ।

सिकन्दर—और उस ब्राह्मण के कहने पर अपने सम्राट् होने का तुम्हें विश्वास हो गया होगा, जो परिस्थिति को देखते हुए असम्भव भी नहीं जान पड़ता।

चन्द्रगुप्त—असम्भव क्यों नहीं ?

सिकन्दर—हमारी सेना इसमें सहायता करेगी, फिर भी असम्भव है !

चन्द्रगुप्त—मुझे आप से सहायता नहीं लेनी है।

सिकन्दर—(क्रोध से)—फिर इतने दिनों तक ग्रीक-शिविर में रहने का तुम्हारा उद्देश्य ?

चन्द्रगुप्त—एक सादर निमंत्रण और सिल्यूकस से उपकृत होने के कारण उनके अनुरोध की रक्षा। परन्तु मैं यवनों को अपना शासक बनने को आमंत्रित करने नहीं आया हूँ।

सिकन्दर—परंतु इन्हीं यवनों के द्वारा भारत जो आज तक कभी भी आक्रांत नहीं हुआ है, विजित किया जायगा।

चन्द्रगुप्त—वह भविष्य के गर्भ में है, उसके लिए अभी से इतनी उछल-कूद मचाने की आवश्यकता नहीं।

सिकन्दर—अबोध युवक, तू गुप्तचर है!

चंद्रगुप्त—नहीं, कदापि नहीं। अवश्य ही यहाँ रहकर यवन रण-नीति से मैं कुछ परिचित हो गया हूँ। मुझे लोभ से पराभूत गांधारराज आम्भीक समझने की भूल न होनी चाहिए; मैं मगध का उद्धार करना चाहता हूँ। परन्तु यवन लुटेरों की सहायता से नहीं।

सिकन्दर—तुमको अपनी विपत्तियों से डर नहीं—ग्रीक लुटेरे हैं?

चन्द्रगुप्त—क्या यह झूठ है? लूट के लोभ से हत्या-व्यवसायियों को एकत्र करके उन्हें वीर-सेना कहना, रण-कला का उपहास करना है।

सिकन्दर—(आश्चर्य और क्रोध से)—सिल्यूकस!

चन्द्रगुप्त—सिल्यूकस नहीं, चन्द्रगुप्त से कहने की बात चन्द्रगुप्त से कहनी चाहिए।

आम्भीक—शिष्टता से बातें करो।

चंद्रगुप्त—स्वच्छ हृदय भीरु कायरों की-सी वंचक शिष्टता नहीं जानता। अनार्य्य! देशद्रोही! आम्भीक! चन्द्रगुप्त रोटियों की लालच से या घृणाजनक लोभ से सिकंदर के पास नहीं आया है।

सिकन्दर—बन्दी कर लो इसे।

[आम्भीक, फिलिप्स, एनिसाक्रेटीज़ टूट पड़ते हैं; चन्द्रगुप्त असाधारण वीरता से तीनों को घायल करता हुआ निकल जाता है।]

सिकन्दर—सिल्यूकस !

सिल्यूकस—सम्राट् !

सिकन्दर—यह क्या ?

सिल्यूकस—आपका अविवेक। चन्द्रगुप्त एक वीर युवक है ! यह आचरण उसकी भावी श्री और पूर्ण मनुष्यता का द्योतक है सम्राट् ! हम लोग जिस काम से आये हैं, उसे करना चाहिये। फिलिप्स को अन्तःपुर की महिलाओं के साथ बाल्हीक जाने दीजिए।

सिकन्दर—(सोचकर)—अच्छा जाओ !

२

झेलम-तट का वनपथ

[चाणक्य, चन्द्रगुप्त और अलका का प्रवेश]

अलका—आर्य्य ! अब हम लोगों का क्या कर्त्तव्य है ?

चाणक्य—पलायन ।

चन्द्र०—व्यंग न कीजिए गुरुदेव !

चाणक्य—दूसरा उपाय क्या है ?

अलका—है क्यों नहीं ?

चाणक्य—हो सकता है,—(दूसरी ओर देखने लगता है)

चन्द्र०—गुरुदेव !

चाणक्य—परिव्राजक होने की इच्छा है क्या ? वही एक सरल उपाय है !

चन्द्र०—नहीं, कदापि नहीं । यवनों को प्रतिपद में बाधा देना मेरा कर्त्तव्य है और शक्ति भर प्रयत्न करूँगा ।

चाणक्य—यह तो अच्छी बात है । परन्तु सिंहरण अभी नहीं आया ।

चन्द्र०—उसे समाचार मिलना चाहिए ।

चाणक्य—अवश्य मिला होगा ।

अलका—यदि न आ सके ?

चाणक्य—जब काली घटाओं से आकाश घिरा हो, रह-रह कर बिजली चमक जाती हो, पवन स्तब्ध हो, उमस बढ़ रही हो,

और आषाढ़ के आरम्भिक दिन हों, तब किस बात की संभावना करनी चाहिये ?

अलका—जल बरसने की।

चाणक्य—ठीक उसी प्रकार जब देश में युद्ध हो, सिंहरण मालव को समाचार मिला हो, तब उसके आने की भी निश्चित आशा है।

चन्द्र०—उधर देखिए—वे दो व्यक्ति कौन आ रहे हैं।

[सिंहरण का सहारा लिये वृद्ध गांधार-राज का प्रवेश]

चाणक्य—राजन् !

गांधार-राज—विभव की छलनाओं से वंचित एक वृद्ध ! जिसके पुत्र ने विश्वासघात किया हो और कन्या ने साथ छोड़ दिया हो—मैं वही, एक अभागा मनुष्य हूँ !

अलका—पिताजी !—(गले से लिपट जाती है।)

गांधार०—बेटी अलका ! अरे तू कहाँ भटक रही है !

अलका—कहीं नहीं पिताजी ! आपके लिये छोटी-सी झोंपड़ी बना रक्खी है; चलिये विश्राम कीजिये।

गांधार०—नहीं; तू मुझे अपनी झोंपड़ी में बिठाकर चली जायगी। जो महलों को छोड़ चुकी है, उसका झोंपड़ियों के लिये क्या विश्वास !

अलका—नहीं पिताजी, विश्वास कीजिये। (सिंहरण से) मालव ! मैं कृतज्ञ हुई।

[सिंहरण सस्मित नमस्कार करता है। पिता के साथ अलका का प्रस्थान]

चाणक्य—सिंहरण तुम आ गये, परन्तु........।

सिंह०—किन्तु-परन्तु नहीं आर्य्य! आप आज्ञा दीजिये, हम लोग कर्त्तव्य में लग जायँ! विपत्तियों के बादल मँडरा रहे हैं।

चाणक्य—उसकी चिन्ता नहीं, पौधे अंधकार में बढ़ते हैं, और मेरी नीति-लता भी उसी भाँति विपत्ति-तम में लहलही होगी। हाँ, केवल शौर्य्य से काम नहीं चलेगा। एक बात समझ लो, चाणक्य सिद्धि देखता है, साधन चाहे कैसे ही हों। बोलो—तुम लोग प्रस्तुत हो?

सिंह०—हम लोग प्रस्तुत हैं।

चाणक्य—तो युद्ध नहीं करना होगा।

चद्र०—फिर क्या?

चाणक्य—सिंहरण और अलका को नट और नटी बनना होगा; चन्द्रगुप्त बनेगा सँपेरा और मैं ब्रह्मचारी। देख रहे हो चन्द्रगुप्त, पर्वतेश्वर की सेना में जो एक गुल्म अपनी छावनी अलग डाले हैं, वे सैनिक कहाँ के हैं?

चन्द्र—नहीं जानता।

चाणक्य—अभी जानने की आवश्यकता भी नहीं। हम लोग उसी सेना के साथ अपने स्वाँग रखेंगे। वहीं हमारे खेल होंगे। चलो हम लोग चलें; देखो—वह नवीन गुल्म का युवक-सेनापति जा रहा है।

[सब का प्रस्थान]

[पुरुष-वेश में कल्याणी और सैनिक का प्रवेश]

कल्याणी—सेनापति! मैंने दुस्साहस करके पिताजी को चिढ़ा तो दिया, पर अब कोई मार्ग बताओ जिससे मैं सफलता प्राप्त कर सकूँ। पर्वतेश्वर को नीचा दिखलाना ही मेरा प्रधान उद्देश है।

सेना०—राजकुमारी!

कल्याणी—सावधान सेनापति!

सेनापति—क्षमा हो, अब ऐसी भूल न होगी। हाँ, तो केवल एक मार्ग है।

कल्याणी—वह क्या?

सेना०—घायलों की शुश्रूषा का भार ले लेना है।

कल्याणी—मगध सेनापति! तुम कायर हो।

सेना०—तब जैसी आज्ञा हो!—(स्वगत)—स्त्री की अधीनता वैसे ही बुरी होती है, तिस पर युद्धक्षेत्र में! भगवान् ही बचावें।

कल्याणी—मेरी इच्छा है कि जब पर्वतेश्वर यवन-सेना-द्वारा चारों ओर से घिर जाय, उस समय उसका उद्धार करके अपना मनोरथ पूर्ण करूँ।

सेना०—बात तो अच्छी है।

कल्याणी—और तब तक हम लोगों की रक्षित सेना—(रुक कर देखते हुए)—यह तो पर्वतेश्वर इधर ही आ रहा है!

[पर्वतेश्वर का युद्ध-वेश में प्रवेश]

पर्वतेश्वर—(दूर दिखला कर) वह किस गुल्म का शिविर है युवक?

कल्याणी—मगध-गुल्म का महाराज !

पर्व०—मगध की सेना, असम्भव ! उसने तो रण-निमंत्रण ही अस्वीकृत किया था।

कल्याणी—परन्तु मगध की बड़ी सेना में से एक छोटा-सा वीर युवकों का दल इस युद्ध के लिये परम उत्साहित था। स्वेच्छा से उसने इस युद्ध में योग दिया है।

पर्व०—प्राच्य मनुष्यों में भी इतना उत्साह !—

[हँसता है]

कल्याणी—महाराज, उत्साह का निवास किसी विशेष दिशा में नहीं है !

पर्व०—(हँसकर) —प्रगल्भ हो युवक, परन्तु रण जब नाचने लगता है,तब भी यदि तुम्हारा उत्साह बना रहे,तो मानूँगा। हाँ ! तुम बड़े सुन्दर सुकुमार युवक हो, इसलिये साहस न कर बैठना। तुम मेरी रक्षित सेना के साथ रहो तो अच्छा ! समझे न !

कल्याणी—जैसी आज्ञा।

[चन्द्रगुप्त, सिंहरण और अलका का वेश बदले हुए प्रवेश]

सिंह०—खेल देख लो खेल ! ऐसा खेल—जो कभी न देखा हो, न सुना !

पर्व०—नट ! इस समय खेल देखने का अवकाश नहीं।

अलका—क्या युद्ध के पहले ही घबरा गये, सेनापति ! वह भी तो वीरों का खेल ही है !

पर्व०—बड़ी ढीठ है !

चन्द्र०—न हो तो नागों का ही दर्शन कर लो!

कल्याणी—बड़ा कौतुक है महाराज, इन नागों को ये लोग किस प्रकार वश कर लेते हैं ?

चन्द्र०—(सम्भ्रम से)—महाराज हैं! तब तो अवश्य पुरस्कार मिलेगा।

[सँपेरों की-सी चेष्टा करता है। पिटारी खोल कर साँप निकालता है]

कल्याणी—आश्चर्य है, मनुष्य ऐसे कुटिल विषधरों को भी वश कर सकता है, परन्तु मनुष्य को नहीं!

पर्व०—नट, नागों पर तुम लोगों का अधिकार कैसे हो जाता है ?

चन्द्र०—मंत्र-महौषधि के भाले से बड़े-बड़े मत्त नाग वशीभूत होते हैं।

पर्व०—भाले से ?

सिंह०—हाँ महाराज! वैसे ही जैसे भालों से मदमत्त मातंग।

पर्व०—तुम लोग कहाँ से आ रहे हो ?

सिंह०—ग्रीकों के शिविर से।

चन्द्र०—उनके भाले भारतीय हाथियों के लिये वज्र ही हैं।

पर्व०—तुम लोग आम्भीक के चर तो नहीं हो ?

सिंह०—रातोरात यवन-सेना वितस्ता के पार हो गयी है—समीप है, महाराज! सचेत हो जाइये!

पर्व०—मगधनायक! इन लोगों को बंदी करो।

[चन्द्रगुप्त कल्याणी को ध्यान से देखता है]

अलका—उपकार का भी यह फल !

चन्द्र०—हम लोग, बंदी ही हैं। परन्तु रण-व्यूह से साव-धान होकर सैन्य-परिचालन कीजिये। जाइये महाराज ! यवन-रणनीति भिन्न है।

[पर्वतेश्वर उद्विग्न भाव से जाता है]

कल्याणी—(सिंहरण से)—चलो हमारे शिविर में ठहरो। फिर बताया जायगा।

चन्द्र०—मुझे कुछ कहना है।

कल्याणी—अच्छा तुम लोग आगे चलो।

[सिंहरण इत्यादि आगे बढ़ते हैं]

चन्द्र०—इस युद्ध में पर्वतेश्वर की पराजय निश्चित है।

कल्याणी—परन्तु तुम कौन हो—(ध्यान से देखती हुई)—मैं तुमको पहचान.........

चन्द्र०—मगध का एक सँपेरा !

कल्याणी—हूँ ! और भविष्यद्वक्ता भी !

चन्द्र०—मुझे मगध की पताका के सम्मान की........

कल्याणी—कौन ? चन्द्रगुप्त तो नहीं ?

चन्द्र—अभी तो एक सँपेरा हूँ राजकुमारी कल्याणी !

कल्याणी—(एक क्षण चुप रह कर)—हम दोनों को चुप रहना चाहिये। चलो !

[दोनों का प्रस्थान

३

युद्धक्षेत्र—सैनिकों के साथ पर्वतेश्वर

पर्व०—सेनापति, भूल हुई।

सेना०—हाथियों ने ही ऊधम मचा रक्खा है और रथी-सेना भी व्यर्थ-सी हो रही है।

पर्व०—सेनापति, युद्ध में जय या मृत्यु—दो में से एक होनी चाहिये।

सेना०—महाराज, सिकन्दर को वितस्ता पर यह अच्छी तरह विदित हो गया है कि हमारे खड्गों में कितनी धार है। स्वयं सिकंदर का अश्व मारा गया और राजकुमार के भीषण भाले की चोट सिकंदर न सँभाल सका।

पर्व०—प्रशंसा का समय नहीं है। शीघ्रता करो। मेरा रण-गज प्रस्तुत हो; मैं स्वयं गजसेना का संचालन करूँगा। चलो!

[सब जाते हैं]

[कल्याणी और चन्द्रगुप्त का प्रवेश]

कल्याणी—चंद्रगुप्त, तुम्हें यदि मगध-सेना विद्रोही जान कर वंदी बनावे?

चंद्र०—वंदी सारा देश है राजकुमारी; दारुण द्वेष से सब जकड़े हैं। मुझको इसकी चिन्ता भी नहीं। परन्तु राजकुमारी का युद्धक्षेत्र में आना अनोखी बात है!

कल्याणी—केवल तुम्हें देखने के लिये। मैं जानती थी कि

तुम युद्ध में अवश्य सम्मिलित होगे और मुझे भ्रम हो रहा है कि तुम्हारे निर्वासन के भीतरी कारणों में एक मैं भी हूँ।

चन्द्र०—परन्तु राजकुमारी, मेरा हृदय देश की दुर्दशा से व्याकुल है। इस ज्वाला में स्मृतिलता मुरझा गयी है।

कल्याणी—चन्द्रगुप्त !

चन्द्र०—राजकुमारी ! समय नहीं। देखो—वह भारतीयों के प्रतिकूल दैव ने मेघमाला का सृजन किया है। रथ बेकार होंगे और हाथियों का प्रत्यावर्त्तन और भयानक हो रहा है।

कल्याणी—तब ! मगध-सेना तुम्हारे अधीन है; जैसा चाहो, करो।

चन्द्र०—पहले उस पहाड़ी पर सेना एकत्र होनी चाहिये। शीघ्र आवश्यकता होगी। पर्वतेश्वर की पराजय को रोकने की चेष्टा कर देखूं।

कल्याणी—चलो !

(मेघों की गड़गड़ाहट—दोनों जाते हैं)

[एक ओर से सिल्यूकस, दूसरी ओर से पर्वतेश्वर का ससैन्य प्रवेश; युद्ध।]

सिल्यू०—पर्वतेश्वर ! अस्त्र रख दो !

पर्व—यवन ! सावधान ! बचाओ अपने को !

[तुमुल युद्ध, घायल होकर सिल्यूकस का हटना]

पर्व—सेनापति ! देखो, उन कायरों को रोको। उनसे कह दो कि आज रणभूमि में पर्वतेश्वर पर्वत के समान अचल है।

जय-पराजय की चिन्ता नहीं। इन्हें बतला देना होगा कि भारतीय लड़ना जानते हैं। बादलों से पानी बरसने की जगह वज्र बरसें; सारी गजसेना छिन्न-भिन्न हो जाय, रथी विरथ हों, रक्त के नाले धमनियों से बहें; परन्तु एक पग भी पीछे हटना पर्वतेश्वर के लिये असंभव है। धर्मयुद्ध में प्राण-भिक्षा माँगनेवाले भिखारी हम नहीं। जाओ, उन भगोड़ों से एक बार जननी के स्तन्य की लज्जा के नाम पर रुकने के लिये कहो! कहो कि मरने का क्षण एक ही है। जाओ।

[सेनापति का प्रस्थान। सिंहरण और अलका का प्रवेश]।

सिंह०—महाराज! यह स्थान सुरक्षित नहीं। उस पहाड़ी र चलिये।

पर्व०—तुम कौन हो युवक!

सिंह०—एक मालव।

पर्व०—मालव के मुख से ऐसा कभी नहीं सुना गया। मालव! खड्ग-क्रीड़ा देखनी हो तो खड़े रहो। डर लगता हो तो पहाड़ी पर जाओ।

सिंह०—महाराज यवनों का एक दल वह आ रहा है!

पर्व०—आने दो। तुम हट जाओ।

[सिल्यूकस और फिलिप्स का प्रवेश—सिंहरण और पर्वतेश्वर का युद्ध और लड़खड़ा कर गिरने की चेष्टा। चंद्रगुप्त और कल्याणी का सैनिकों के साथ पहुँचना। दूसरी ओर से सिकन्दर का आना। युद्ध बन्द करने के लिए सिकन्दर की आज्ञा।]

चंद्र०—युद्ध होगा !

सिकं०—कौन, चन्द्रगुप्त !

चन्द्र०—हाँ देवपुत्र !

सिकं०—[किससे युद्ध ! मुमूर्षु घायल पर्वतेश्वर—वीर पर्वतेश्वर से कदापि नहीं। आज मुझे जय-पराजय का विचार नहीं है। मैंने एक अलौकिक वीरता का स्वर्गीय दृश्य देखा है। होमर की कविता में पढ़ी हुई जिस कल्पना से मेरा हृदय भरा है, उसे यहाँ प्रत्यक्ष देखा ! भारतीय वीर पर्वतेश्वर ! अब मैं तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार करूँ ?]

पर्व—(रक्त पोंछते हुए)—जैसा एक नरपति अन्य नरपति के साथ करता है, सिकंदर !

सिकं०—मैं तुमसे मैत्री करना चाहता हूँ। विस्मय-विमुग्ध होकर तुम्हारी सराहना किये बिना मैं नहीं रह सकता—धन्य ! आर्य्य वीर !

पर्व—मैं तुमसे युद्ध न करके मैत्री भी कर सकता हूँ।

चन्द्र०—पंचनद-नरेश ! आप क्या कर रहे हैं ! समस्त मागध सेना आपकी प्रतीक्षा में है, युद्ध होने दीजिये !

कल्याणी—इन थोड़े से अर्धजीव यवनों को विचलित करने के लिये पर्य्याप्त मागध सेना है। महाराज ! आज्ञा दीजिये।

पर्व०—नहीं युवक ! वीरता भी एक सुन्दर कला है, उस पर मुग्ध होना आश्चर्य की बात नहीं, मैंने वचन दे दिया, अब सिकन्दर चाहे हटे।

सिकं०—कदापि नहीं।

कल्याणी—(शिरस्त्राण फेंक कर)—जाती हूँ क्षत्रिय पर्वतेश्वर ! तुम्हारे पतन में रक्षा न कर सकी; बड़ी निराशा हुई !

पर्व०—तुम कौन हो !

चन्द्र०—मागध-राजकुमारी कल्याणी देवी !

पर्व०—ओह पराजय ! निकृष्ट पराजय !

[चन्द्रगुप्त और कल्याणी का प्रस्थान । सिकन्दर आश्चर्य से देखता है। अलका घायल सिंहरण को उठाया चाहती है कि आम्भीक आकर दोनों को बन्दी करता है ।]

पर्व०—यह क्या !

आम्भीक—इनको अभी बन्दी बना रखना आवश्यक है।

पर्व०—तो वे लोग मेरे यहाँ रहेंगे।

सिकं०—पंचनद-नरेश की जैसी इच्छा हो।

चंद्र०—उनकी उत्तेजना से सैनिकों ने विपाशा को पार करना अस्वीकार कर दिया और यवन, देश लौट चलने के लिए आग्रह करने लगे। सिकन्दर के बहुत अनुरोध करने पर भी वे युद्ध के लिए सहमत नहीं हुए। इसलिए रावी के जलमार्ग से लौटने का निश्चय हुआ है। अब उनकी इच्छा युद्ध की नहीं है।

चाणक्य—और क्षुद्रकों का क्या समाचार है ?

चंद्र०—वे भी प्रस्तुत हैं। मेरी इच्छा है कि इस जगद्विजेता का ढोंग करने वाले को एक पाठ पराजय का पढ़ा दिया जाय। परन्तु इस समय यहाँ सिंहरण का होना अत्यन्त आवश्यक है।

चाणक्य—अच्छा देखा जायगा। संभवतः स्कन्धावार में मालवों की युद्ध-परिषद् होगी। अत्यंत सावधानी से काम करना होगा। मालवों के मिलाने का पूरा प्रयत्न तो हमने कर लिया है।

चंद्र०—चलिए, मैं अभी आया !

[चाणक्य का प्रस्थान]

माल०—यह खेल तो बड़ा भयानक होगा मागध !

चंद्र०—कुछ चिन्ता नहीं। अभी कल्याणी नहीं आई !

[एक सैनिक का प्रवेश]

चंद्र०—क्या है ?

सैनिक—सेनापति ! मगध-सेना के लिए क्या आज्ञा है ?

चंद्र०—विपाशा और शतद्रु के बीच जहाँ अत्यन्त संकीर्ण

भू-भाग है, वहीं अपनी सेना रक्खो। स्मरण रखना कि विपाशा पार करने पर मगध का साम्राज्य ध्वंस करना यवनों के लिये बड़ा साधारण काम हो जायगा। सिकन्दर की सेना के सामने इतना विराट प्रदर्शन होना चाहिये कि वह भयभीत हो!

सैनिक—अच्छा, राजकुमारी ने पूछा है कि आप कब तक आवेंगे? उनकी इच्छा मालव में ठहरने की नहीं है।

चन्द्र०—राजकुमारी से मेरा प्रणाम कहना और कह देना कि मैं सेनापति का पुत्र हूँ, युद्ध ही मेरी आजीविका है। क्षुद्रकों की सेना का मैं सेनापति होने के लिये आमन्त्रित किया गया हूँ। इसलिये मैं यहाँ रह कर भी मगध की अच्छी सेवा कर सकूँगा।

सैनिक—जैसी आज्ञा। (जाता है)

चन्द्रगुप्त—(कुछ सोच कर) सैनिक!

[फिर लौट आता है]

सैनिक—क्या आज्ञा है?

चन्द्र०—राजकुमारी से कह देना कि मगध जाने की उत्कट इच्छा होने पर भी वे सेना साथ न ले जायँ।

सैनिक—इसका उत्तर भी लेकर आना होगा?

चन्द्र०—नहीं।

[सैनिक का प्रस्थान]

माल०—मलव में बहुत-सी बातें मेरे देश से विपरीत हैं। इनकी युद्ध-पिपासा बलवती है। फिर युद्ध!

चन्द्र० —तो क्या तुम इस देश की नहीं हो ?

माल०—नहीं, मैं सिन्धु की रहनेवाली हूँ आर्य्य! वहाँ युद्ध-विग्रह नहीं, न्यायालयों की आवश्यकता नहीं। प्रचुर स्वर्ण के रहते भी कोई उसका उपयोग नहीं। इसलिये अर्थमूलक विवाद कभी उठते ही नहीं। मनुष्य के प्राकृतिक जीवन का सुन्दर पालना मेरा सिन्धु देश है।

चन्द्र०—तो यहाँ कैसे चली आई हो ?

माल०—मेरी इच्छा हुई कि और देशों को भी देखूँ। तक्षशिला में राजकुमारी अलका से कुछ ऐसा स्नेह हुआ कि वहीं रहने लगी। उन्होंने मुझे घायल सिंहरण के साथ यहाँ भेज दिया। कुमार सिंहरण बड़े सहृदय हैं। परन्तु मागध, तुमको देख कर तो मैं चकित हो जाती हूँ! कभी इन्द्रजाली, कभी कुछ! भला इतना सुन्दर रूप तुम्हें विकृत करने की क्या आवश्यकता है ?

चन्द्र० —शुभे, मैं तुम्हारी सरलता पर मुग्ध हूँ। तुम इन बातों को पूछ कर क्या करोगी! (प्रस्थान)

माल०—स्नेह से हृदय चिकना हो जाता है, परन्तु बिछलने का भय भी होता है। अद्भुत युवक है। देखूँ कुमार सिंहरण कब आते हैं।

[पट-परिवर्तन]

५

स्थान—बन्दीगृह, घायल सिंहरण और अलका

अलका—अब तो चल-फिर सकोगे ?

सिंह०—हाँ अलका, परन्तु बन्दीगृह में चलना-फिरना व्यर्थ है।

अलका—नहीं मालव, बहुत शीघ्र स्वस्थ होने की चेष्टा करो। तुम्हारी आवश्यकता है।

सिंह०—क्या ?

अलका—सिकन्दर की सेना रावी पार हो रही है। पंचनद से संधि हो गई, अब यवन लोग निश्चिन्त होकर आगे बढ़ना चाहते हैं। आर्य्य चाणक्य का एक चर यह सन्देश सुना गया है।

सिंह०—कैसे ?

अलका—क्षपणक-वेश में गीत गाता हुआ भीख माँगता आता था, उसने संकेत से अपना तात्पर्य्य कह सुनाया।

सिंह०—तो क्या आर्य्य चाणक्य जानते हैं कि मैं यहाँ बन्दी हूँ ?

अलका—हाँ, आर्य्य चाणक्य इधर की सब घटनाओं को जानते हैं।

सिंह०—तब तो मालव पर शीघ्र ही आक्रमण होगा !

अलका—कोई डरने की बात नहीं, क्योंकि चन्द्रगुप्त को साथ लेकर आर्य्य ने वहाँ पर एक बड़ा भारी कार्य्य किया है।

क्षुद्रकों और मालवों में संधि हो गई है। चन्द्रगुप्त को उनकी सम्मिलित सेना का सेनापति बनाने का उद्योग हो रहा है।

सिंह०—(उठ कर) तब तो अलका, मुझे शीघ्र पहुँचना चाहिये।

अलका०—परन्तु तुम बन्दी हो।

सिंह०—जिस तरह हो सके अलके, मुझे पहुँचाओ।

अलका—(कुछ सोचने लगती है)—तुम जानते हो कि मैं क्यों वन्दिनी हूँ?

सिंह—क्यों?

अलका—आम्भीक से पर्वतेश्वर की संधि हो गई और स्वयं सिकन्दर ने विरोध मिटाने के लिये पर्वतेश्वर की भगिनी से आम्भीक का व्याह कर दिया है। परन्तु आम्भीक ने यह जान कर भी कि मैं यहाँ वन्दिनी हूँ, मुझे छुड़ाने का प्रयत्न नहीं किया। उसकी भीतरी इच्छा थी, कि पर्वतेश्वर की कई रानियों में से एक मैं भी हो जाऊँ। परन्तु मैंने अस्वीकार कर दिया।

सिंह०—अलका, तब क्या करना होगा?

अलका—यदि मैं पर्वतेश्वर से व्याह करना स्वीकार करूँ तो सम्भव है कि तुमको छुड़ा दूँ।

सिंह०—मैं·····अलका! मुझसे पूछती हो!

अलका—दूसरा उपाय क्या है?

सिंह०—मेरा सिर घूम रहा है। अलका! तुम पर्वतेश्वर की प्रणयिनी बनोगी! अच्छा होता कि इसके पहले ही मैं न रह जाता!

अलका—क्यों मालव, इसमें तुम्हारी कुछ हानि है?

सिंह०—कठिन परीक्षा न लो अलका! मैं बड़ा दुर्बल हूँ। मैंने जीवन और मरण में तुम्हारा संग न छोड़ने का प्रण किया है।

अलका—मालव, देश की स्वतंत्रता तुम्हारी आशा में है।

सिंह०—और तुम पंचनद की अधीश्वरी बनने की आशा में······तब मुझे रणभूमि में प्राण देने की आज्ञा दो।

अलका—(हँसती हुई)—चिढ़ गये! आर्य्य चाणक्य की आज्ञा है कि थोड़ी देर पंचनद का सूत्र-संचालन करने के लिये मैं यहाँ की रानी बन जाऊँ।

सिंह०—यह भी कोई हँसी है!

अलका—वंदी! जाओ सो रहो, मैं आज्ञा देती हूँ।

[सिंहरण का प्रस्थान]

अलका—सुन्दर निश्छल हृदय, तुमसे हँसी करना भी अन्याय है! परन्तु व्यथा को दबाना पड़ेगा। सिंहरण को मालव भेजने के लिये प्रणय के साथ अत्याचार करना होगा।

[गाती है]

प्रथम यौवन-मदिरा से मत्त, प्रेम करने की थी परवाह,
और किसको देना हृदय, चीन्हने की न तनिक थी चाह।
बेंच डाला था हृदय अमोल, आज वह माँग रहा था दाम,
वेदना मिली तुला पर तोल, उसे लोभी ने ली बेकाम।
उड़ रही है हृत्पथ में धूल, आ रहे हो तुम बे-परवाह,
करूँ क्या दृग-जल से छिड़काव, बनाऊँ मैं यह बिछलन राह।

सँभलते धीरे धीरे चलो, इसी मिस तुमको लगे विलम्ब,
सफल हो जीवन की सब साध, मिले आशा को कुछ अवलम्ब।
विश्व की सुषमाओं का स्रोत, बह चलेगा आँखों की राह,
और दुर्लभ होगी पहचान, रूप-रत्नाकर भरा अथाह।

[पर्वतेश्वर का प्रवेश]

पर्व०—सुन्दरी अलका, तुम कब तक यहाँ रहोगी ?

अलका—यह बंदी बनानेवाले की इच्छा पर निर्भर करता है।

पर्व०—तुम्हें कौन बंदी कहता है ? यह तुम्हारा अन्याय है; अलका ! चलो, सुसज्जित राजभवन तुम्हारी प्रत्याशा में है।

अलका—नहीं पौरव, मैं राजभवनों से डरती हूँ, क्योंकि उनके लोभ से मनुष्य आजीवन मानसिक कारावास भोगता है।

पर्व०—इसका तात्पर्य्य ?

अलका—कोमल शय्या पर लेटे रहने की प्रत्याशा में स्वतंत्रता का भी विसर्जन करना पड़ता है—यही उन विलास-पूर्ण राजभवनों का प्रलोभन है।

पर्व०—व्यंग न करो अलका ! पर्वतेश्वर ने जो कुछ किया है, वह भारत का एक-एक बच्चा जानता है। परन्तु दैव प्रतिकूल हो तब क्या किया जाय।

अलका—मैं मानती हूँ, परन्तु आपकी आत्मा इसे मानने के लिये प्रस्तुत न होगी। हम लोग जो आपके लिये, देश के लिये, प्राण देने को प्रस्तुत थे, केवल यवनों को प्रसन्न करने के लिये बंदी किये गये !

पर्व०—वंदी कैसे ?

अलका—वंदी नहीं तो और क्या ? सिंहरण, जो आपके साथ युद्ध करते घायल हुआ है, आज तक वह क्यों रोका गया ? पंचनद-नरेश, आपका न्याय अत्यन्त सुन्दर है न !

पर्व०—कौन कहता है कि सिंहरण वंदी है ? उस वीर की मैं प्रतिष्ठा करता हूँ अलका, परन्तु उससे द्वंद्व-युद्ध किया चाहता हूँ !

अलका—क्यों ?

पर्व—क्योंकि अलका के दो प्रेमी नहीं जी सकते।

अलका—महाराज, यदि भूपालों का-सा व्यवहार न माँग कर आप सिकंदर से द्वंद्व-युद्ध माँगते, तो अलका को विचार करने का अवसर मिलता।

पर्व०—यदि मैं सिकंदर का विपक्षी वन जाऊँ तो तुम मुझे प्यार करोगी अलका ? सच कहो।

अलका—तब विचार करूँगी, पर वैसी सम्भावना नहीं।

पर्व०—क्या प्रमाण चाहती हो अलका ?

अलका—सिंहरण के देश पर यवनों का आक्रमण होने वाला है, वहाँ तुम्हारी सेना, यवनों की सहायक न बने, और सिंहरण अपने मालव की रक्षा के लिये मुक्त किया जाय।

पर्व०—मुझे स्वीकार है।

अलका—तो मैं भी राजभवन में चलने के लिये प्रस्तुत हूँ, परन्तु एक नियम पर

पर्व—वह क्या ?

सँभलते धीरे धीरे चलो, इसी मिस तुमको लगे विलम्ब,
सफल हो जीवन की सब साध, मिले आशा को कुछ अवलम्ब।
विश्व की सुषमाओं का स्रोत, वह चलेगा आँखों की राह,
और दुर्लभ होगी पहचान, रूप-रत्नाकर भरा अथाह।

[पर्वतेश्वर का प्रवेश]

पर्व०—सुन्दरी अलका, तुम कब तक यहाँ रहोगी ?

अलका—यह बंदी बनानेवाले की इच्छा पर निर्भर करता है।

पर्व०—तुम्हें कौन बंदी कहता है ? यह तुम्हारा अन्याय है; अलका ! चलो, सुसज्जित राजभवन तुम्हारी प्रत्याशा में है।

अलका—नहीं पौरव, मैं राजभवनों से डरती हूँ, क्योंकि उनके लोभ से मनुष्य आजीवन मानसिक कारावास भोगता है।

पर्व०—इसका तात्पर्य्य ?

अलका—कोमल शय्या पर लेटे रहने की प्रत्याशा में स्वतंत्रता का भी विसर्जन करना पड़ता है—यही उन विलास-पूर्ण राजभवनों का प्रलोभन है।

पर्व०—व्यंग न करो अलका ! पर्वतेश्वर ने जो कुछ किया है, वह भारत का एक-एक बच्चा जानता है। परन्तु दैव प्रतिकूल हो तब क्या किया जाय।

अलका—मैं मानती हूँ, परन्तु आपकी आत्मा इसे मानने के लिये प्रस्तुत न होगी। हम लोग जो आपके लिये, देश के, लिये, प्राण देने को प्रस्तुत थे, केवल यवनों को प्रसन्न करने के लिये बंदी किये गये !

पर्व०—वंदी कैसे ?

अलका—वंदी नहीं तो और क्या ? सिंहरण, जो आपके साथ युद्ध करते घायल हुआ है, आज तक वह क्यों रोका गया ? पंचनद-नरेश, आपका न्याय अत्यन्त सुन्दर है न !

पर्व०—कौन कहता है कि सिंहरण वंदी है ? उस वीर की मैं प्रतिष्ठा करता हूँ अलका, परन्तु उससे द्वंद्व-युद्ध किया चाहता हूँ !

अलका—क्यों ?

पर्व—क्योंकि अलका के दो प्रेमी नहीं जी सकते।

अलका—महाराज, यदि भूपालों का-सा व्यवहार न माँग कर आप सिकंदर से द्वंद्व-युद्ध माँगते, तो अलका को विचार करने का अवसर मिलता।

पर्व०—यदि मैं सिकंदर का विपक्षी वन जाऊँ तो तुम मुझे प्यार करोगी अलका ? सच कहो।

अलका—तव विचार करूँगी, पर वैसी सम्भावना नहीं।

पर्व०—क्या प्रमाण चाहती हो अलका ?

अलका—सिंहरण के देश पर यवनों का आक्रमण होने वाला है, वहाँ तुम्हारी सेना, यवनों की सहायक न वने, और सिंहरण अपने मालव की रक्षा के लिये मुक्त किया जाय।

पर्व०—मुझे स्वीकार है।

अलका—तो मैं भी राजभवन में चलने के लिये प्रस्तुत हूँ, परन्तु एक नियम पर

पर्व—वह क्या ?

सँभलते धीरे धीरे चलो, इसी मिस तुमको लगे विलम्ब,
सफल हो जीवन की सब साध, मिले आशा को कुछ अवलम्ब ॥
विश्व की सुषमाओं का स्रोत, वह चलेगा आँखों की राह,
और दुर्लभ होगी पहचान, रूप-रत्नाकर भरा अथाह।

[पर्वतेश्वर का प्रवेश]

पर्व०—सुन्दरी अलका, तुम कब तक यहाँ रहोगी?

अलका—यह बंदी बनानेवाले की इच्छा पर निर्भर करता है।

पर्व०—तुम्हें कौन बंदी कहता है? यह तुम्हारा अन्याय है; अलका! चलो, सुसज्जित राजभवन तुम्हारी प्रत्याशा में है।

अलका—नहीं पौरव, मैं राजभवनों से डरती हूँ, क्योंकि उनके लोभ से मनुष्य आजीवन मानसिक कारावास भोगता है।

पर्व०—इसका तात्पर्य्य?

अलका—कोमल शय्या पर लेटे रहने की प्रत्याशा में स्वतंत्रता का भी विसर्जन करना पड़ता है—यही उन विलास-पूर्ण राजभवनों का प्रलोभन है।

पर्व०—व्यंग न करो अलका! पर्वतेश्वर ने जो कुछ किया है, वह भारत का एक-एक बच्चा जानता है। परन्तु दैव प्रतिकूल हो तब क्या किया जाय।

अलका—मैं मानती हूँ, परन्तु आपकी आत्मा इसे मानने के लिये प्रस्तुत न होगी। हम लोग जो आपके लिये, देश के लिये, प्राण देने को प्रस्तुत थे, केवल यवनों को प्रसन्न करने के लिये बंदी किये गये!

पर्व०—वंदी कैसे ?

अलका—वंदी नहीं तो और क्या ? सिंहरण, जो आपके साथ युद्ध करते घायल हुआ है, आज तक वह क्यों रोका गया ? पंचनद-नरेश, आपका न्याय अत्यन्त सुन्दर है न !

पर्व०—कौन कहता है कि सिंहरण वंदी है ? उस वीर की मैं प्रतिष्ठा करता हूँ अलका, परन्तु उससे द्वंद्व-युद्ध किया चाहता हूँ !

अलका—क्यों ?

पर्व—क्योंकि अलका के दो प्रेमी नहीं जी सकते।

अलका—महाराज, यदि भूपालों का-सा व्यवहार न माँग कर आप सिकंदर से द्वंद्व-युद्ध माँगते, तो अलका को विचार करने का अवसर मिलता।

पर्व०—यदि मैं सिकंदर का विपक्षी बन जाऊँ तो तुम मुझे प्यार करोगी अलका ? सच कहो।

अलका—तब विचार करूँगी, पर वैसी सम्भावना नहीं।

पर्व०—क्या प्रमाण चाहती हो अलका ?

अलका—सिंहरण के देश पर यवनों का आक्रमण होने वाला है, वहाँ तुम्हारी सेना, यवनों की सहायक न बने, और सिंहरण अपने मालव की रक्षा के लिये मुक्त किया जाय।

पर्व०—मुझे स्वीकार है।

अलका—तो मैं भी राजभवन में चलने के लिये प्रस्तुत हूँ, परन्तु एक नियम पर

पर्व—वह क्या ?

अलका—यही कि सिकंदर के भारत में रहने तक मैं स्वतंत्र रहूँगी। पंचनद-नरेश, यह दस्यु-दल बरसाती बाढ़ के समान निकल जायगा, विश्वास रखिये।

पर्व०—सच कहती हो अलका! अच्छा, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, तुम जैसा कहोगी, वही होगा। सिंहरण के लिये रथ आवेगा और तुम्हारे लिये शिविका। देखो भूलना मत।

[चिंतित भाव से प्रस्थान]

६

मालवों के स्कंधावार में युद्ध-परिषद्

देवबल—परिषद् के सम्मुख मैं यह विज्ञप्ति उपस्थित करता हूँ कि यवन-युद्ध के लिये जो संधि मालव-क्षुद्रकों से हुई है, उसे सफल बनाने के लिये आवश्यक है कि दोनों गणों की एक सम्मिलत सेना बनाई जाय और उसके सेनापति क्षुद्रकों के मनोनीत सेनापति मागध चन्द्रगुप्त ही हों। उन्हीं की आज्ञा से सैन्य-संचालन हो।

[सिंहरण का प्रवेश—परिषद् में हर्ष]

सब—कुमार सिंहरण की जय !

नागदत्त—मगध एक साम्राज्य है। लिच्छिवि और वृजि गणतंत्र को कुचलनेवाले मगध का निवासी हमारी सेना का संचालन करे, यह अन्याय है। मैं इसका विरोध करता हूँ।

सिंह—मैं मालव-सेना का बलाधिकृत हूँ। मुझे सेना का अधिकार परिषद् ने प्रदान किया है और साथ ही मैं सन्धि-विग्रहिक का कार्य भी करता हूँ। पंचनद की परिस्थिति स्वयं देख आया हूँ और मागध चन्द्रगुप्त को भी भली भाँति जानता हूँ। मैं चन्द्रगुप्त के आदेशानुसार युद्ध चलाने के लिये सहमत हूँ। और भी मेरी एक प्रार्थना है—उत्तरापथ के विशिष्ट राज-नीतिज्ञ आर्य्य चाणक्य के गम्भीर राजनीतिक विचार सुनने पर आप लोग अपना कर्तव्य निश्चित करें।

गणमुख्य—आर्य्य चाणक्य व्यासपीठ पर आवें।

चाणक्य—(व्यासपीठ से)—उत्तरापथ के प्रमुख गणतंत्र मालवराष्ट्र की परिषद् का मैं अनुगृहीत हूँ कि ऐसे गम्भीर अवसर पर मुझे कुछ कहने के लिए उसने आमंत्रित किया। गणतंत्र और एकराज्य का प्रश्न यहाँ नहीं, क्योंकि लिच्छिवि और वृजियों का अपकार करनेवाला मगध का एकराज्य, शीघ्र ही गणतंत्र में परिवर्तित होने वाला है। युद्ध-काल में एक नायक की आज्ञा माननी पड़ती है। वहाँ शलाका ग्रहण करके शस्त्र प्रहार करना असम्भव है। अतएव सेना का एक नायक तो होना ही चाहिए और यहाँ की परिस्थिति में चन्द्रगुप्त से बढ़ कर इस कार्य के लिये दूसरा व्यक्ति न होगा। वितस्ता-प्रदेश के अधीश्वर पर्वतेश्वर के यवनों से संधि करने पर भी चन्द्रगुप्त ही के उद्योग का यह फल है कि पर्वतेश्वर की सेना यवन-सहायता को न आवेगी। इसी के प्रयत्न से यवन सेना में विद्रोह भी हो गया है, जिससे उनका आगे बढ़ना असम्भव हो गया है। परन्तु सिकन्दर की कूट-नीति प्रत्यावर्त्तन में भी विजय चाहती है। वह अपनी विद्रोही सेना को स्थल-मार्ग से लौटने की आज्ञा देकर नौबल के द्वारा स्वयं सिंधु-संगम तक के प्रदेश विजय करना चाहता है। उसमें मालवों का नाश निश्चित है। अतएव, सेनापतित्व के लिए आप लोग चन्द्रगुप्त को वरण करें तो क्षुद्रकों का सहयोग भी आप लोगों को मिलेगा। चन्द्रगुप्त को उन लोगों ने भी सेनापति बनाया है।

नागदत्त—ऐसा नहीं हो सकता!

चाणक्य—प्रबल प्रतिरोध करने के लिए दोनों सैन्य में एकाधिपत्य होना आवश्यक है। साथ ही क्षुद्रकों की संधि की मर्य्यादा भी रखनी चाहिये। प्रश्न शासन का नहीं, युद्ध का है। युद्ध में सम्मिलित होने वाले वीरों को एकनिष्ठ होना ही लाभदायक है। फिर तो मालव और क्षुद्रक दोनों ही स्वतंत्र संघ हैं और रहेंगे। संभवतः इसमें प्राच्यों का एक गणराष्ट्र आगामी दिनों में और भी आ मिलेगा।

नाग०—समझ गया, चन्द्रगुप्त को ही सम्मिलित सेना का सेनापति बनाना श्रेयस्कर होगा।

सिंह—अन्न पान और भैषज्य सेवा करनेवाली स्त्रियों ने मालविका को अपना प्रधान बनाने की प्रार्थना की है।

गणमुख्य—यह उन लोगों की इच्छा पर है। अस्तु, महाबलाधिकृत-पद के लिये चन्द्रगुप्त को वरण करने की आज्ञा परिषद् देती है। (समवेत जयघोष)

७

पर्वतेश्वर का प्रासाद

अलका—सिंहरण मेरी आशा देख रहा होगा और मैं यहाँ पड़ी हूँ! आज इसका कुछ निपटारा करना होगा। अब अधिक नहीं—(आकाश की ओर देख कर)—तारों से भरी हुई काली रजनी का नीला आकाश—जैसे कोई विराट् गणितज्ञ निभृत में रेखा-गणित की समस्या सिद्ध करने के लिए बिन्दु दे रहा है।

[पर्वतेश्वर का प्रवेश]

पर्व—अलका! बड़ी द्विविधा है।

अलका—क्यों पौरव!

पर्व०—मैं तुमसे प्रतिश्रुत हो चुका हूँ कि मालव-युद्ध में मैं भाग न लूँगा, परन्तु सिकन्दर का दूत आया है कि आठ सहस्र अश्वारोही लेकर रावी-तट पर मिलो। साथ ही पता चला है, कि कुछ यवन-सेना अपने देश को लौट रही है।

अलका—(अन्यमनस्क होकर) हाँ कहते चलो!

पर्व०—तुम क्या कहती हो अलका?

अलका—मैं सुनना चाहती हूँ!

पर्व०—बतलाओ, मैं क्या करूँ?

अलका—जो अच्छा समझो। मुझे देखने दो ऐसी सुन्दर वेणी—फूलों से गूँथी हुई श्यामा-रजनी की सुन्दर वेणी—अहा!

पर्व०—क्या कह रही हो?

अलका—गाने की इच्छा होती है, सुनोगे ?

[गाती है]

बिखरी किरन अलक व्याकुल हो विरस वदन पर चिंता लेख,
छायापथ में राह देखती गिनती प्रणय-अवधि की रेख।
प्रियतम के आगमन-पंथ में उड़ न रही है कोमल धूल,
कादम्बिनी उठी यह ढँकने वाली दूर जलधि के कूल।
समय-विहग के कृष्णपक्ष में रजत चित्र-सी अंकित कौन—
तुम हो सुन्दरि तरल तारिके! बोलो कुछ, बैठो मत मौन!
मन्दाकिनी समीप भरी फिर प्यासी आँखें क्यों नादान
रूप-निशा की ऊषा में फिर कौन सुनेगा तेरा गान।

पर्व—अलका! मैं पागल होता जा रहा हूँ! यह तुमने क्या कर दिया है!

अलका—मैं तो गा रही हूँ।

पर्व०—परिहास न करो। बताओ, मैं क्या करूँ ?

अलका—यदि सिकंदर के रण-निमन्त्रण में तुम न जाओगे तो तुम्हारा राज्य चला जायगा ?

पर्व—बड़ी विडम्बना है!

अलका—पराधीनता से बढ़ कर विडम्बना और क्या है ? अब समझ गये होगे कि वह संधि नहीं, पराधीनता की स्वीकृति थी।

पर्व०—मैं समझता हूँ कि एक हजार अश्वारोहियों को साथ लेकर वहाँ पहुँच जाऊँ, फिर, कोई बहाना ढूँढ़ निकालूँगा।

अलका—(मन में) मैं चलूँ, निकल भागने का ऐसा अवसर दूसरा न मिलेगा !—(प्रकट) अच्छी बात है, परन्तु मैं भी साथ चलूँगी। मैं यहाँ अकेले क्या करूँगी ?

[पर्वतेश्वर का प्रस्थान]

८

रावी के तट पर सैनिकों के साथ मालविका और चंद्रगुप्त,

नदी में दूर पर कुछ नावें

माल०—मुझे शीघ्र उत्तर दीजिये।

चंद्र०—जैसा उचित समझो, तुम्हारी आवश्यक सामग्री तुम्हारे आधीन रहेगी। सिंहरण को कहाँ छोड़ा ?

माल०—आते ही होंगे।

चंद्र०—(सैनिकों से)—तुम लोग कितनी दूर तक गये थे ?

सैनिक—अभी चार योजन तक यवनों का पता नहीं। परन्तु कुछ भारतीय सैनिक रावी के उस पार दिखाई दिये। मालव की पचासों हिंस्रिकायें वहाँ निरीक्षण कर रही हैं। उन पर धनुर्धर हैं।

सिंह०—(प्रवेश करके)—वह पर्वतेश्वर की सेना होगी। किन्तु मागध ! आश्चर्य्य है।

चंद्र०—आश्चर्य्य कुछ नहीं।

सिंह०—क्षुद्रकों के केवल कुछ ही गुल्म आए हैं, और तो···

चंद्र०—चिन्ता नहीं। कल्याणी के मागध सैनिक और क्षुद्रक अपनी घात में हैं। यवनों को इधर आ जाने दो। सिंहरण, थोड़ी सी हिंस्रिकाओं पर मुझे साहसी वीर चाहिये।

सिंह०—प्रस्तुत हैं। आज्ञा दीजिये।

चंद्र०—यवनों की जलसेना पर आक्रमण करना होगा।

अलका—(मन में) मैं चलूँ, निकल भागने का ऐसा अवसर दूसरा न मिलेगा !—(प्रकट) अच्छी बात है, परन्तु मैं भी साथ चलूँगी। मैं यहाँ अकेले क्या करूँगी ?

[पर्वतेश्वर का प्रस्थान]

८

रावी के तट पर सैनिकों के साथ मालविका और चंद्रगुप्त,

नदी में दूर पर कुछ नावें

माल०—मुझे शीघ्र उत्तर दीजिये।

चद्र०—जैसा उचित समझो, तुम्हारी आवश्यक सामग्री तुम्हारे आधीन रहेगी। सिंहरण को कहाँ छोड़ा ?

माल०—आते ही होंगे।

चंद्र०—(सैनिकों से)—तुम लोग कितनी दूर तक गये थे ?

सैनिक—अभी चार योजन तक यवनों का पता नहीं। परन्तु कुछ भारतीय सैनिक रावी के उस पार दिखाई दिये। मालव की पचासों हिंस्त्रिकायें वहाँ निरीक्षण कर रही हैं। उन पर धनुर्धर हैं।

सिंह०—(प्रवेश करके)—वह पर्वतेश्तेवर की सेना होगी। किन्तु मागध ! आश्चर्य्य है।

चंद्र०—आश्चर्य्य कुछ नहीं।

सिंह०—क्षुद्रकों के केवल कुछ ही गुल्म आए हैं, और तो…

चंद्र०—चिन्ता नहीं। कल्याणी के मागध सैनिक और क्षुद्रक अपनी घात में हैं। यवनों को इधर आ जाने दो। सिंहरण, थोड़ी सी हिंस्त्रिकाओं पर मुझे साहसी वीर चाहिये।

सिंह०—प्रस्तुत हैं। आज्ञा दीजिये।

चंद्र०—यवनों की जलसेना पर आक्रमण करना होगा।

विजय के विचार से नहीं, केवल उलझाने के लिये और उनकी सामग्री नष्ट करने के लिये।

[सिंहरण संकेत करता है, नावें जाती हैं]

माल०—तो मैं स्कंधावार के पृष्ठ भाग में अपने साधन रखती हूँ। एक क्षुद्र भाण्डार मेरे उपवन में भी रहेगा।

चंद्र—(विचार करके)-अच्छी बात है।

[एक नाव वेग़ी से आती है, उस पर से अलका उतर पड़ती है]

सिंह-(आश्चर्य से)-तुम कैसे अलका?

अलका—पर्वतेश्वर ने प्रतिज्ञा भंग की है, वह सैनिकों के साथ सिकन्दर की सहायता के लिये आया है। मालवों की नावें घूम रही थीं। मैं जानबूझ कर पर्वतेश्वर को छोड़ कर वहीं पहुँच गई (हँसकर)—परन्तु मैं बन्दी आई हूँ!

चन्द्र०—देवि! युद्धकाल है, नियमों को तो देखना ही पड़ेगा। मालविका! ले जाओ इन्हें उपवन में।

[मालविका और अलका का प्रस्थान]

[मालव रक्षकों के साथ एक यवन का प्रवेश]

यवन—मालव के सन्धि-विग्रहिक अमात्य से मिलना चाहता हूँ।

सिंह०—तुम दूत हो?

यवन०—हाँ।

सिंह० – कहो, मैं यहीं हूँ।

यवन—देवपुत्र ने आज्ञा दी है कि मालव-नेता मुझसे आकर भेंट करें और मेरी जल-यात्रा की सुविधा का प्रबन्ध करें।

सिंह०—सिकंदर से मालवों की ऐसी कोई संधि नहीं हुई है, जिससे वे इस कार्य के लिये बाध्य हों। हाँ, भेंट करने के लिये मालव सदैव प्रस्तुत हैं—चाहे संधिपरिषद् में या रणभूमि में!

यवन—तो यही जाकर कह दूँ?

सिंह०—हाँ जाओ—(रक्षकों से)—इन्हें सीमा तक पहुँचा दो

[यवन का रक्षकों के साथ प्रस्थान]

चन्द्रगुप्त—मालव, हम लोगों ने भयानक दायित्व उठाया है, इसका निर्वाह करना होगा।

सिंह०—जीवन-मरण से खेलते हुए करेंगे वीरवर!

चन्द्र०—परन्तु सुना तो, यवन लोग आर्य्यों की रण-नीति से नहीं लड़ते। वे हमीं लोगों के युद्ध हैं, जिनमें रणभूमि के पास ही कृषक स्वच्छंदता से हल चलाता है। यवन आतंक फैलाना जानते हैं और उसे अपनी रण-नीति का प्रधान अंग मानते हैं। निरीह साधारण प्रजा को लूटना, गाँवों को जलाना, उनके भीषण परंतु साधारण कार्य्य हैं।

सिंह०—युद्ध-सीमा के पास के लोगों को भिन्न दुर्गों में एकत्र होने की आज्ञा प्रचारित हो गई है। जो होगा, देखा जायगा।

चन्द्र०—पर एक बात सदैव ध्यान में रखनी होगी।

सिंह०—क्या?

चन्द्र०—यही कि हमें आक्रमणकारी यवनों को यहाँ से हटाना है, और उन्हें जिस प्रकार हो, भारतीय सीमा के बाहर करना है। इसलिये शत्रु की नीति से युद्ध करना होगा।

सिंह०—सेनापति की सब आज्ञायें मानी जायँगी, चलिये!

[सब का प्रस्थान]

९

शिविर के समीप कल्याणी और चाणक्य

कल्याणी—आर्य्य, अब मुझे लौटने की आज्ञा दीजिये, क्योंकि सिकंदर ने विपाशा को अपने आक्रमण की सीमा बना ली है। अग्रसर होने की संभावना नहीं, और अमात्य राक्षस भी आ गये हैं, उनके साथ मेरा जाना ही उचित है।

चाणक्य—और चन्द्रगुप्त से क्या कह दिया जाय?

कल्याणी—मैं नहीं जानती।

चाणक्य—परन्तु राजकुमारी, उसका असीम प्रेमपूर्ण हृदय भग्न हो जायगा। वह बिना पतवार की नौका के सदृश इधर-उधर बहेगा।

कल्याणी—आर्य्य, मैं इन बातों को नहीं सुनना चाहती, क्योंकि समय ने मुझे अव्यवस्थित बना दिया है।

[अमात्य राक्षस का प्रवेश]

राक्षस—कौन? चाणक्य?

चाणक्य—हाँ अमात्य! राजकुमारी मगध लौटना चाहती हैं।

राक्षस—तो उन्हें कौन रोक सकता है?

चाणक्य—क्यों? तुम रोकोगे।

राक्षस—क्या तुमने सब को मूर्ख समझ लिया है?

चाणक्य—जो होंगे वे अवश्य समझे जायँगे। अमात्य! मगध की रक्षा अभीष्ट नहीं है क्या?

राक्षस—मगध विपन्न कहाँ है ?

चाणक्य—तो मैं क्षुद्रकों से कह दूँ कि तुम लोग बाधा न दो, और यवनों से भी यह कह दिया जाय कि वास्तव में यह स्कंधावार प्राच्य देश के सम्राट् का नहीं है जिससे भयभीत हो कर तुम विपाशा पार नहीं होना चाहते; यह तो क्षुद्रकों की क्षुद्र सेना है जो तुम्हारे लिये मगध तक पहुँचने का सरल पथ छोड़ देने को प्रस्तुत है—क्यों ?

राक्षस-(विचार कर)-आह ब्राह्मण, मैं स्वयं रहूँगा ; यह तो मान लेने योग्य सम्मति है। परंतु-

चाणक्य—फिर परन्तु लगाया ! तुम स्वयं रहो और राजकुमारी भी रहें। और, तुम्हारे साथ जो नवीन गुल्म आये हैं, उन्हें भी रखना पड़ेगा। जब सिकंदर रावी के अंतिम छोर पर पहुँचेगा, तब तुम्हारी सेना का काम पड़ेगा। राक्षस ! फिर भी मगध पर मेरा स्नेह है। मैं उसे उजड़ने और हत्याओं से बचाना चाहता हूँ।

[प्रस्थान]

कल्याणी—क्या इच्छा है अमात्य ?

राक्षस—मैं इसका मुँह भी नहीं देखना चाहता। पर इसकी बातें मानने के लिये विवश हो रहा हूँ। राजकुमारी ! यह मगध का विद्रोही अब तक बंदी कर लिया जाता, यदि इसकी स्वतंत्रता की आवश्यकता न होती।

कल्याणी—जैसी सम्मति हो।

[चाणक्य का पुनः प्रवेश]

चाणक्य—अमात्य! सिंह पिंजड़े में बंद हो गया है!

राक्षस—कैसे?

चाणक्य—जल-यात्रा में इतना विघ्न उपस्थित हुआ कि सिकंदर को स्थल-मार्ग से मालवों पर आक्रमण करना पड़ा। अपनी विजयों पर फूल कर उसने ऐसा किया, परन्तु जा फँसा उनके चंगुल में। अब इधर क्षुद्रकों और मागधों की नवीन सेनाओं से उसको बाधा पहुँचानी होगी।

राक्षस—तब तुम क्या कहते हो? क्या चाहते हो?

चाणक्य—यही कि तुम अपनी सम्पूर्ण सेना लेकर विपाशा के तट की रक्षा करो; और क्षुद्रकों को लेकर मैं पीछे से आक्रमण करने जाता हूँ। इसमें तो डरने की बात कोई नहीं?

राक्षस—मैं स्वीकार करता हूँ।

चाणक्य—यदि न करोगे तो अपना ही अनिष्ट करोगे।

[प्रस्थान]

कल्याणी—विचित्र ब्राह्मण है अमात्य! मुझे तो इसको देख कर डर लगता है।

राक्षस—विकट है! राजकुमारी, एक बार इससे मेरा द्वंद्व होना अनिवार्य्य है, परन्तु अभी मैं उसे बचाना चाहता हूँ।

कल्याणी—चलिये।

[कल्याणी का प्रस्थान]

चाणक्य—(पुनः प्रवेश करके)—राक्षस ! एक बात तुम्हारे कल्याण की है, सुनोगे ? मैं कहना भूल गया था।

राक्षस—क्या ?

चाणक्य—नंद को अपनी प्रेमिका सुवासिनी से तुम्हारे अनुचित सम्बन्ध का विश्वास हो गया है। अभी तुम्हारा मगध लौटना ठीक न होगा। समझे !

[चाणक्य का सवेग प्रस्थान, राक्षस सिर पकड़ कर बैठ जाता है]

१०

मालव-दुर्ग का भीतरी भाग, एक शून्य परकोटा

मालविका—अलका, इधर तो कोई भी सैनिक नहीं है! यदि शत्रु इधर से आवे तब ?

अलका—दुर्ग ध्वंस करने के लिये यंत्र लगाये जा चुके हैं, परंतु मालव-सेना अभी सुख की नींद नहीं सो रही है। सिंहरण को दुर्ग की भीतरी रक्षा का भार देकर चंद्रगुप्त नदी-तट से यवन-सेना के पृष्ठभाग पर आक्रमण करेंगे। आज ही युद्ध का अंतिम निर्णय है। जिस स्थान पर यवन-सेना को ले आना अभीष्ट था, वहाँ तक पहुँच गई है।

माल०—अच्छा चलो, कुछ नवीन आहत आ गये हैं, उनकी सेवा का प्रबंध करना है।

अलका—(देख कर) मालविका! मेरे पास धनुष है और कटार है। इस आपत्ति-काल में एक आयुध अपने पास रखना चाहिये। तू कटार अपने पास रख ले।

माल०—मैं डरती हूँ, घृणा करती हूँ,। रक्त की प्यासी छुरी अलग करो अलका, मैंने सेवा का व्रत लिया है!

अलका—प्राणों के भय से शस्त्र से घृणा करती हो क्या ?

माल०—प्राण तो धरोहर है, जिसका होगा वही लेगा, मुझे भय से इसकी रक्षा करने की आवश्यकता नहीं। मैं जाती हूँ।

अलका—अच्छी बात है, जा। परन्तु सिंहरण को शीघ्र ही भेज दे। यहाँ जब तक कोई न आ जाय, मैं नहीं हट सकती।

[मालविका का प्रस्थान]

अलका—संध्या का नीरव निर्जन प्रदेश है। बैठूँ। (अकस्मात् बाहर से हल्ला होता है, युद्ध-शब्द)—क्या चंद्रगुप्त ने आक्रमण कर दिया? परन्तु यह स्थान......बड़ा ही अरक्षित है।—(उठती है)—अरे! वह कौन है? कोई यवन सैनिक है क्या? तो सावधान हो जाऊँ।

[धनुष चढ़ाकर तीर मारती है। यवन सैनिक का पतन दूसरा फिर ऊपर आता है, उसे भी मारती है, तीसरे बार स्वयं सिकंदर ऊपर आता है। तीर का वार बचा कर दुर्ग में कूदता है और अलका को पकड़ना चाहता है। सहसा सिंहरण का प्रवेश; युद्ध]

सिंह०—(तलवार चलाते हुए)—तुमको स्वयं इतना साहस नहीं करना चाहिये सिकंदर! तुम्हारा प्राण बहुमूल्य है।

सिकंदर—सिकंदर केवल सेनाओं को आज्ञा देना नहीं जानता। बचाओ अपने को! (भाले का वार)

[सिंहरण इस फुरती से बरछे को ढाल पर लेता है कि वह सिकंदर के हाथ से छूट जाता है। यवनराज विवश होकर तलवार चलाता है किन्तु सिंहरण के भयानक प्रत्याघात से घायल होकर गिरता है। तीन यवन-सैनिक कूद कर आते हैं; इधर से मालव सैनिक पहुँचते हैं।]

सिंह०—यवन! दुस्साहस न करो! तुम्हारे सम्राट् की अवस्था शोचनीय है; ले जाओ, इनकी शुश्रूषा करो!

यवन—दुर्ग-द्वार टूटता है और अभी हमारे वीर सैनिक इस दुर्ग को मटियामेट करते हैं।

सिंह०—पीछे चंद्रगुप्त की सेना है मूर्ख ! इस दुर्ग में आकर तुम सब वंदी होगे। ले जाओ, सिकंदर को उठा ले जाओ, जब तक और मालवों को यह न विदित हो जाय कि यह वही सिकंदर है।

मालव सैनिक—सेनापति, रक्त का वदला ! इस नृशंस ने निरीह जनता का अकारण वध किया है ! प्रतिशोध ?

सिंह०—ठहरो, मालव वीरो ! ठहरो। यह भी एक प्रतिशोध है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था; पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युत्तर है। यवन ! जाओ, शीघ्र जाओ !

[तीनों यवन सिकन्दर को लेकर जाते हैं, घबराया हुआ एक सैनिक आता है]

सिंह०—क्या है ?

सैनिक—दुर्ग-द्वार टूट गया यवन सेना भीतर आ रही है ?

सिंह०—कुछ चिन्ता नहीं। दृढ़ रहो ! समस्त मालव-सेना से कह दो कि सिंहरण तुम्हारे साथ मरेगा। (अलका से) तुम मालविका को साथ लेकर अंतःपुर की स्त्रियों को भूगर्भ-द्वार से रक्षित स्थान पर ले जाओ। अलका ! मालव के ध्वंस पर ही आर्य्यों का यशोमंदिर ऊँचा खड़ा हो सकेगा। जाओ !

[अलका का प्रस्थान। यवन सैनिकों का प्रवेश, दूसरी ओर से चंद्रगुप्त का प्रवेश और युद्ध। एक यवन सैनिक दौड़ा हुआ आता है]

यवन—सेनापति सिल्यूकस ! क्षुद्रकों की सेना भी पीछे आ गई है ! बाहर की सेना को उन लोगों ने उलझा रक्खा है।

चंद्रगुप्त—यवन सेनापति, मार्ग चाहते हो या युद्ध ? मुझ पर कृतज्ञता का बोझ है। तुम्हारा जीवन !

सिल्यू०—(कुछ सोचने लगता है) हम दोनों के लिये प्रस्तुत हैं ! किन्तु······

चंद्र०—शांति ! मार्ग दो ! जाओ सेनापति ! सिकंदर का जीवन बच जाय तो फिर आक्रमण करना।

[यवन-सेना का प्रस्थान। चन्द्रगुप्त का जय-घोष]

तृतीय अंक

१

विपाशा-तट का शिविर......राक्षस टहलता हुआ

राक्षस—एक दिन चाणक्य ने कहा था कि आक्रमणकारी यवन, ब्राह्मण और बौद्धों का भेद न मानेंगे। वही बात ठीक उतरी। यदि मालव और क्षुद्रक परास्त हो जाते और यवन-सेना शतद्रु पार कर जाती तो मगध का नाश निश्चित था। मूर्ख मगध-नरेश ने संदेह किया है और बार-बार मेरे लौट आने की आज्ञायें आने लगी हैं! परन्तु......

[एक चर प्रवेश करके प्रणाम करता है]

राक्षस—क्या समाचार है?

चर—बड़ा ही आतंकजनक है अमात्य!

राक्षस—कुछ कहो भी!

चर—सुवासिनी पर आपसे मिल कर कुचक्र रचने का अभियोग है; वह कारागार में है!

राक्षस—(क्रोध से)—और भी कुछ?

चर—हाँ अमात्य, प्रान्त दुर्ग पर अधिकार करके विद्रोह करने के अपराध में आपको वन्दी बनाकर ले आनेवाले के लिये पुरस्कार की घोषणा की गई है!

राक्षस—यहाँ तक ! तुम सत्य कहते हो ?

चर—मैं तो यहाँ तक कहने के लिये प्रस्तुत हूँ कि अपने बचने का शीघ्र उपाय कीजिये।

राक्षस—भूल थी ! मेरी भूल थी ! मूर्ख राक्षस ! मगध की रक्षा करने चला था ! जाता मगध, कटती प्रजा, लुटते नगर ! नन्द ! क्रूरता और मूर्खता की प्रतिमूर्ति नन्द ! एक पशु ! उसके लिये क्या चिन्ता थी ! सुवासिनी ! मैं सुवासिनी के लिये मगध को बचाना चाहता था ! कुटिल विश्वासघातिनी राज-सेवा ! तुझे धिक्कार है !

[एक नायक का सैनिकों के साथ प्रवेश]

नायक—अमात्य राक्षस, मगध-सम्राट् की आज्ञा से शस्त्र-त्याग कीजिये। आप बंदी हैं।

राक्षस-(खड्ग खींच कर) कौन है तू मूर्ख ! इतना साहस !

नायक—यह तो बंदीगृह बतावेगा। बल-प्रयोग करने के लिये मैं बाध्य हूँ!—(सैनिकों से)—अच्छा ! बाँध लो।

[दूसरी ओर से आठ सैनिक आकर उन पहले के सैनिकों को बन्दी बनाते हैं। राक्षस आश्चर्य-चकित होकर देखता है]

नायक—तुम सब कौन हो !

नवागत सैनिक—राक्षस के शरीर-रक्षक !

राक्षस—मेरे !

नवागत—हाँ अमात्य ! आर्य्य चाणक्य ने आज्ञा दी है कि

जब तक यवनों का उपद्रव है, तब तक सब की रक्षा होनी चाहिये, भले ही वह राक्षस क्यों न हो।

राक्षस—इसके लिए मैं चाणक्य का कृतज्ञ हूँ।

नवागत—परंतु अमात्य! कृतज्ञता प्रकट करने के लिये आपको उनके समीप तक चलना होगा।

[सैनिकों को संकेत करता है, बन्दियों को लेकर चले जाते हैं।]

राक्षस—मुझे कहाँ चलना होगा? राजकुमारी से शिविर में भेंट कर लूँगा।

नवागत—वहीं सबसे भेंट होगी। यह पत्र है!

[राक्षस पत्र लेकर पढ़ता है]

राक्षस—अलका का सिंहरण से ब्याह होने वाला है, उसमें मैं भी निमंत्रित किया गया हूँ! चाणक्य विलक्षण बुद्धि का ब्राह्मण है, उसकी प्रखर प्रतिभा कूट राजनीति के साथ दिन-रात जैसे खिलवाड़ किया करती है।

नवागत—हाँ, आपने और भी कुछ सुना है?

राक्षस—क्या?

नवागत—यवनों ने मालवों से संधि करने का संदेश भेजा है। सिकंदर ने उस वीर रमणी अलका को देखने की बड़ी इच्छा प्रकट की है, जिसने दुर्ग में सिकन्दर का प्रतिरोध किया था!

राक्षस—आश्चर्य्य!

चर—हाँ अमात्य! यह तो मैं कहने ही नहीं पाया था। रावी-तट पर एक विस्तृत शिविरों की रंगभूमि बनी है, जिसमें अलका

का व्याह होगा। जब से सिकन्दर को यह विदित हुआ है कि अलका तक्षशिला-नरेश आम्भीक की बहिन है, तब से उसे एक अच्छा अवसर मिल गया है। उसने उक्त शुभ अवसर पर मालवों और यवनों का एक सम्मिलित उत्सव करने की घोषणा कर दी है। अम्भीक के पक्ष से स्वयं निमन्त्रित होकर, परिणय-संपादन कराने, दल-बल के साथ सिंकंदर भी आवेगा।

राक्षस—चाणक्य! तू धन्य है! मुझे ईर्ष्या होती है। चलो।

[सब जाते हैं]

२

रावी-तट के उत्सव-शिविर का एक पथ। पर्वतेश्वर अकेले टहलते हुए

पर्व०—आह! कैसा अपमान! जिस पर्वतेश्वर ने उत्तरा-पथ में अनेक प्रबल शत्रुओं के रहते भी विरोधों को कुचल कर गर्व से सिर ऊँचा कर रक्खा था, जिसने दुर्दान्त सिकन्दर के सामने मरण को तुच्छ समझते हुए, वक्ष ऊँचा करके भाग्य से हँसी-ठट्ठा किया था, उसी का यह तिरस्कार!—सो भी एक स्त्री के द्वारा! और सिकंदर के संकेत से! प्रतिशोध! रक्तपिशाची प्रतिहिंसा अपने दाँतों से नसों को नोच रही है! मरूँ या मार डालूँ? मारना तो असम्भव है। सिंहरण और अलका, वर-वधू-वेश में हैं; मालवों के चुने हुए वीरों से वे घिरे हैं। सिकन्दर उनकी प्रशंसा और आदर में लगा है। इस समय सिंहरण पर हाथ उठाना असफलता के पैरों-तले गिरना है। तो फिर जीकर क्या करूँ?

[छुरा निकाल कर आत्महत्या करना चाहता है, चाणक्य आकर हाथ पकड़ लेता है]

पर्वतेश्वर—कौन?

चाणक्य—ब्राह्मण चाणक्य।

पर्व०—इस मेरे अन्तिम समय में भी क्या कुछ दान चाहते हो?

चाणक्य—हाँ!

पर्व०—मैंने अपना राज्य दिया, अब हटो।

चाणक्य—यह तो तुमने दे दिया, परन्तु इसे मैंने तुम से माँगा न था पौरव!

पर्व०—फिर क्या चाहते हो?

चाणक्य—एक प्रश्न का उत्तर।

पर्व०—तुम अपनी बात मुझे स्मरण दिलाने आये हो? तो ठीक है। ब्राह्मण! तुम्हारी बात सच हुई। यवनों ने आर्य्यावर्त्त को पददलित कर लिया। मैं गर्व में भूला था, तुम्हारी बात न मानी। अब उसी का प्रायश्चित्त करने जाता हूँ! छोड़ दो!

चाणक्य—पौरव! शांत हो। मैं एक दूसरी बात पूछता हूँ। वृषल चंद्रगुप्त क्षत्रिय है कि नहीं; अथवा उसे मूर्धाभिषिक्त करने में ब्राह्मण से भूल हुई?

पर्व—आह, ब्राह्मण! व्यंग्य न करो! चंद्रगुप्त के क्षत्रिय होने का प्रमाण यही विराट् आयोजन है। आर्य्य चाणक्य! मैं क्षमता रखते हुए जिस कार्य्य को न कर सका, वह कार्य्य निस्सहाय चन्द्रगुप्त ने किया। आर्य्यावर्त्त से यवनों को निकल जाने का संकेत उसके प्रचुर बल का द्योतक है। मैं विश्वस्त हृदय से कहता हूँ कि चन्द्रगुप्त आर्य्यावर्त्त का एकच्छत्र सम्राट् होने के उपयुक्त है। अब मुझे छोड़······

चाणक्य—पौरव! ब्राह्मण राज्य करना नहीं जानता, करना भी नहीं चाहता; हाँ, वह राजाओं का नियमन करना जानता है; राजा बनाना जानता है। इसलिये तुम्हें अभी राज्य करना होगा,

और करना होगा वह कार्य्य—जिसमें भारतीयों का गौरव हो और तुम्हारे क्षात्रधर्म्म का पालन हो।

पर्व०—(छुरा फेंक कर)—वह क्या काम है ?

चाणक्य—जिन यवनों ने तुमको लांच्छित और अपमानित किया है, उनसे प्रतिशोध !

पर्व—असंभव है !

चाणक्य–(हँस कर)–मनुष्य अपनी दुर्बलता से भली-भाँति परिचित रहता है। परन्तु उसे अपने बल से भी अवगत होना चाहिये। असंभव कह कर किसी काम को करने के पहले कर्मक्षेत्र में काँप कर लड़खड़ाओ मत पौरव ! तुम क्या हो—विचार कर देखो तो ! सिकंदर ने जो क्षत्रप नियुक्त किया है, जिन संधियों को वह प्रगतिशील रखना चाहता है, वे सब क्या हैं ? अपनी लूटपाट को वह साम्राज्य के रूप में देखना चाहता है ! चाणक्य जीते जी यह नहीं होने देगा ! तुम राज्य करो !

पर्व—परन्तु आर्य्य, मैंने राज्य दान कर दिया है !

चाणक्य—पौरव, तामस त्याग से सात्त्विक ग्रहण उत्तम है। वह दान न था; उसमें कोई सत्य नहीं। तुम उसे ग्रहण करो।

पर्व—तो क्या आज्ञा है ?

चाणक्य—पीछे बतलाऊँगा। इस समय मुझे केवल यही कहना है कि सिंहरण को अपना भाई समझो और अलका को बहन।

[वृद्ध गांधार-राज का सहसा प्रवेश

वृद्ध०—अलका कहाँ है अलका ?

पर्व०—कौन हो तुम वृद्ध ?

चाणक्य—मैं इन्हें जानता हूँ—वृद्ध गांधार-नरेश !

पर्व०—आर्य्य, मैं पर्वतेश्वर प्रणाम करता हूँ ।

वृद्ध०—मैं प्रणाम करने योग्य नहीं; पौरव ! मेरी संतान से देश का बड़ा अनिष्ट हुआ है। आम्भीक ने लज्जा की यवनिका में मुझे छिपा दिया है। इस देशद्रोही के प्राण केवल अलका को देखने के लिये बचे हैं; उसी से कुछ आशा थी। जिसको मोल लेने में लोभ असमर्थ था, उसी अलका को देखना चाहता हूँ और प्राण दे देना चाहता हूँ !—(हाँफता है)

चाणक्य—क्षत्रिय ! तुम्हारे पाप और पुण्य दोनों जीवित हैं। स्वस्तिमती अलका आज सौभाग्यवती होने जा रही है, चलो कन्या-सम्प्रदान करके प्रसन्न हो जाओ।

[चाणक्य वृद्ध गांधार-नरेश को लिवा जाता है]

पर्व०—जाऊँ ? किधर जाऊँ ? चाणक्य के पीछे ?—(जाता है)

[कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त का प्रवेश]

चन्द्र०—कुमारी, आज मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई !

कार्ने०—किस बात की ?

चन्द्र०—कि मैं विस्मृत नहीं हुआ।

कार्ने०—स्मृति कोई अच्छी वस्तु है क्या ?

चंद्र०—स्मृति जीवन का पुरस्कार है सुंदरी !

कार्नें०—परन्तु मैं कितने दूर देश की हूँ। स्मृतियाँ ऐसे अवसर पर दण्ड हो जाती हैं। अतीत के कारागृह में वंदिनी स्मृतियाँ अपने करुण निश्वास की शृंखलाओं को झनझना कर सूचीभेद्य अंधकार में सो जाती हैं।

चंद्र०—ऐसा हो तो भूल जाओ शुभे ! इस केन्द्रच्युत जलते हुए उल्कापिण्ड को कोई कक्षा नहीं। निर्वासित, अपमानित प्राणों की चिन्ता क्या ?

कार्नें०—नहीं चन्द्रगुप्त, मुझे इस देश से जन्मभूमि के समान स्नेह होता जा रहा है। यहाँ के श्यामल कुंज, घने जंगल, सरिताओं की माला पहने हुए शैल-श्रेणी, हरी-भरी वर्षा, गर्मी की चाँदनी, शीत-काल की धूप, और भोले कृषक तथा सरल कृषक-बालिकायें, बाल्य-काल की सुनी हुई कहानियों की जीवित प्रतिमाएँ हैं। यह स्वप्नों का देश, यह त्याग और ज्ञान का पालना, यह प्रेम की रंगभूमि,—भारतभूमि क्या भुलाई जा सकती है ? कदापि नहीं। अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि हैं; यह भारत मानवता की जन्मभूमि है।

चंद्र०—शुभे, मैं यह सुन कर चकित हो गया हूँ।

कार्नें०—और मैं मर्म्माहत हो गई हूँ चद्रगुप्त, मुझे पूर्ण विश्वास था कि यहाँ के क्षत्रप पिताजी नियुक्त होंगे और मैं अलेग्जेंद्रिया में समीप ही रहकर भारत को देख सकूँगी। परन्तु वैसा न हुआ, सम्राट् ने फिलिप्स को यहाँ का शासक नियुक्त कर दिया है।

[अकस्मात् फिलिप्स का प्रवेश]

फिलि०—तो बुरा क्या है कुमारी ! सिल्यूकस के क्षत्रप न होने पर भी कार्नेलिया यहाँ का शासक हो सकती है। फिलिप्स अनुचर होगा—(देख कर)—फिर वही भारतीय युवक !

चंद्र०—सावधान ! यवन ! हम लोग एक बार एक दूसरे की परीक्षा ले चुके हैं।

फिलि०—ऊँह ! तुमसे मेरा संबंध ही क्या है, परंतु.........

कार्न०—और मुझसे भी नहीं, फिलिप्स ! मैं चाहती हूँ कि तुम मुझसे न बोलो !

फिलि०—अच्छी बात है। किन्तु मैं चंद्रगुप्त को भी तुमसे बातें करते हुए नहीं देख सकता। तुम्हारे प्रेम का···

कार्न०—चुप रहो, मैं कहती हूँ चुप रहो !

फिलि०—(चन्द्रगुप्त से) मैं तुमसे द्वंद्व-युद्ध किया चाहता हूँ।

चंद्र०—जब इच्छा हो, मैं प्रस्तुत हूँ। और संधि भंग करने के लिये तुम्हीं अग्रसर होगे, यह अच्छी बात होगी।

फिलि०—संधि राष्ट्र की है। यह मेरी व्यक्तिगत बात है। अच्छा फिर कभी मैं तुम्हें आह्वान करूँगा।

चंद्र०—आधी रात पिछले पहर, जब तुम्हारी इच्छा हो !

[फिलिप्स का प्रस्थान]

कार्न०—सिकंदर ने भारत से युद्ध किया है और मैंने भारत का अध्ययन किया है। मैं देखती हूँ कि यह युद्ध, ग्रीक और भारतीयों के अस्त्र का ही नहीं, इसमें दो बुद्धियाँ भी लड़

रही हैं। यह अरस्तू और चाणक्य की चोट है, सिकन्दर और चन्द्रगुप्त उनके अस्त्र हैं।

चंद्र०—मैं क्या कहूँ, मैं एक निर्वासित—

कार्ने०—लोग चाहे जो कहें, मैं भली भाँति जानती हूँ कि अभी तक चाणक्य की विजय है। पिताजी से और मुझसे इस विषय पर अच्छा विवाद होता है। वे अरस्तू के शिष्यों में हैं।

चंद्र०—भविष्य के गर्भ में अभी बहुत से रहस्य छिपे हैं।

कार्ने०—अच्छा; तो मैं जाती हूँ और फिर एक बार अपनी कृतज्ञता प्रकट करती हूँ। किन्तु मुझे विश्वास है कि मैं पुनः लौट कर आऊँगी।

चंद्र०—उस समय भी मुझे भूलने की चेष्टा करोगी?

कार्ने०—नहीं। चन्द्रगुप्त! विदा,—यवन-बेड़ा आज ही जायगा।

[दोनों एक दूसरे की ओर देखते हुए जाते हैं —राक्षस और कल्याणी का प्रवेश]

कल्याणी—ऐसा विराट् दृश्य तो मैंने नहीं देखा था अमात्य! मगध को किस बात का गर्व है!

राक्षस—गर्व है राजकुमारी! और उसका गर्व सत्य है। चाणक्य और चंद्रगुप्त मगध की ही प्रजा हैं, जिन्होंने इतना बड़ा उलट-फेर किया है?

[चाणक्य का प्रवेश]

चाणक्य—तो तुम इसे स्वीकार करते हो अमात्य राक्षस?

राक्षस—शत्रु की उचित प्रशंसा करना मनुष्य का धर्म्म है। तुमने अद्भुत कार्य्य किये, इसमें भी कोई सन्देह है ?

चाणक्य—अस्तु, अब तुम जा सकते हो। मगध तुम्हारा स्वागत करेगा।

राक्षस—राजकुमारी तो कल चली जायँगी। पर, मैंने अभी तक निश्चय नहीं किया है।

चाणक्य—मेरा कार्य्य हो गया, राजकुमारी जा सकती हैं। परन्तु एक बात कहूँ ?

राक्षस—क्या ?

चाणक्य—यहाँ की कोई बात नन्द से न कहने की प्रतिज्ञा करनी होगी।

कल्याणी—मैं प्रतिश्रुत होती हूँ।

चाणक्य—राक्षस, मैं सुवासिनी से तुम्हारी भेंट भी करा देता, परन्तु वह मुझ पर विश्वास नहीं करती।

राक्षस—क्या वह भी यहीं है ?

चाणक्य—कहीं होगी, तुम्हारा प्रत्यय देख कर वह आ सकती है।

राक्षस—यह लो मेरी अंगुलीय मुद्रा। चाणक्य ! सुवासिनी को कारागार से मुक्त करा कर मुझसे भेंट करा दो।

चाणक्य—(मुद्रा लेकर)—मैं चेष्टा करूँगा।

[प्रस्थान]

राक्षस—तो राजकुमारी, प्रणाम।

कल्याणी—तुमने अपना कर्तव्य भली-भाँति सोच लिया होगा। मैं जाती हूँ, और विश्वास दिलाती हूँ कि मुझसे तुम्हारा अनिष्ट न होगा।

[दोनों का प्रस्थान]

३

रावी का तट—सिकंदर का बेड़ा प्रस्तुत; चाणक्य और पर्वतेश्वर

चाणक्य—पौरव, देखो वह नृशंसता की बाढ़ आज उतर जायगी। चाणक्य ने जो किया, वह भला था या बुरा, अब समझ में आवेगा।

पर्व०—मैं मानता हूँ, यह आप ही का स्तुत्य कार्य्य है।

चाणक्य—और चंद्रगुप्त के बाहुबल का, पौरव ! आज फिर मैं उसी बात को दुहराना चाहता हूँ। अत्याचारी नन्द के हाथों से मगध का उद्धार करने के लिए चाणक्य ने तुम्हीं से पहले सहायता माँगी थी और अब तुम्हीं से लेगा भी; अब तो तुम्हें विश्वास होगा ?

पर्व०—मैं प्रस्तुत हूँ आर्य्य !

चाणक्य—मैं विश्वस्त हुआ। अच्छा यवनों को आज विदा करना है।

[एक ओर से सिकंदर, सिल्यूकस, कार्नेलिया, फिलिप्स इत्यादि; और दूसरी ओर से चंद्रगुप्त, सिंहरण, अलका, मालविका और आम्भीक इत्यादि का यवन और भारतीय रणवाद्यों के साथ प्रवेश]

सिकं०—सेनापति चन्द्रगुप्त ! बधाई है !

चंद्र०—किस बात की राजन् !

सिकं०—जिस समय तुम भारत के सम्राट् होगे, उस समय मैं

उपस्थित न रह सकूँगा, उसके लिये पहले से बधाई है। मुझे उस नग्न ब्राह्मण दाण्ड्यायन की बातों का पूर्ण विश्वास हो गया।

चंद्र०—आप वीर हैं।

सिकं०—आर्य्य वीर! मैंने भारत में हरक्यूलिस, एचिलिस की आत्माओं को भी देखा और देखा डिमास्थनीज को। संभवतः प्लेटो और अरस्तू भी होंगे। मैं भारत का अभिनन्दन करता हूँ।

सिल्यू०—सम्राट्! यही आर्य्य चाणक्य हैं।

[सिकं०—धन्य हैं आप, मैं तलवार खींचे हुए भारत में आया, हृदय देकर जाता हूँ। विस्मय-विमुग्ध हूँ। जिनसे खड्ग-परीक्षा हुई थी, युद्ध में जिनसे तलवारें मिली थीं, उनसे हाथ मिला कर—मैत्री के हाथ मिला कर जाना चाहता हूँ।]

चाणक्य—हम लोग प्रस्तुत हैं सिकंदर! तुम वीर हो, भारतीय सदैव उत्तम गुणों की पूजा करते हैं। तुम्हारी जल-यात्रा मंगलमय हो। हम लोग युद्ध करना जानते हैं, द्वेष नहीं।

[सिकन्दर हँसता हुआ अनुचरों के साथ नौका पर आरोहण करता है, नाव चलती है]

४

पथ में चर और राक्षस

चर—छल ! प्रवञ्चना !! विश्वासघात !!!

राक्षस—क्या है, कुछ सुनूँ भी !

चर—मगध से आज मेरा सखा कुरंग आया है, उससे यह मालूम हुआ है कि महाराज नन्द का कुछ भी क्रोध आपके ऊपर नहीं, वह आपके शीघ्र मगध लौटने के लिये उत्सुक हैं।

राक्षस—और सुवासिनी ?

चर—सुवासिनी सुखी और स्वतंत्र है। मुझे चाणक्य के चर से यह धोखा हुआ था, जब मैंने आपसे वहाँ का समाचार कहा था।

राक्षस—तब क्या मैं कुचक्र में डाला गया हूँ ?—(विचार कर)—चाणक्य की चाल है। ओह, मैं समझ गया। मुझे अभी निकल भागना चाहिये। सुवासिनी पर भी कोई अत्याचार मेरी मुद्रा दिखा कर न किया जा सके, इसके लिए मुझे शीघ्र मगध पहुँचना चाहिये।

चर—क्या आपने मुद्रा भी दे दी है ?

राक्षस—मेरी मूर्खता। चाणक्य, मगध में विद्रोह कराना चाहता है !

चर—अभी हम लोगों को मगध-गुल्म मार्ग में मिल जायगा, चाणक्य से बचने के लिये उसका आश्रय अच्छा [illegible]। दो [illegible] [illegible] [illegible] अन्धकार में हैं, शीघ्रता कीजिये।

राक्षस—तो चलो! मैं चाणक्य के हाथों का कठपुतला बन कर मगध का नाश नहीं करा सकता।

[दोनों का प्रस्थान—अलका और सिंहरण का प्रवेश]

सिंह०—देवी! पर इसका उपाय क्या है?

अलका—उपाय जो कुछ हो, मित्र के कार्य्य में तुमको सहायता करनी ही चाहिये। चंद्रगुप्त आज कह रहे थे कि 'मगध जाऊँगा। देखूँ पर्वतेश्वर क्या करते हैं!'

सिंह०—चंद्रगुप्त के लिये यह प्राण अर्पित है अलके, मालव कृतघ्न नहीं होते। देखो, चंद्रगुप्त और चाणक्य आ रहे हैं।

अलका—और उधर से पर्वतेश्वर भी।

[चन्द्रगुप्त, चाणक्य और पर्वतेश्वर का प्रवेश]

सिंह०—मित्र! अभी कुछ दिन और ठहर जाते तो अच्छा था; अथवा जैसी गुरुदेव की आज्ञा।

चाणक्य—पर्वतेश्वर, तुमने मुझसे प्रतिज्ञा की है!

पर्व०—मैं प्रस्तुत हूँ, आर्य्य!

चाणक्य—अच्छा तो तुम्हें मेरे साथ चलना होगा। सिंहरण मालव गणराष्ट्र का व्यक्ति है, वह अपनी शक्ति भर प्रयत्न कर सकता है, किन्तु सहायता बिना परिषद् की अनुमति लिये असम्भव है। मैं परिषद् के सामने अपना भेद खोलना नहीं चाहता। इसलिये पौरव, सहायता केवल तुम्हें करनी होगी।

मालव अपने शरीर और खड्ग का स्वामी है, वह मेरे लिये प्रस्तुत है। मगध का अधिकार प्राप्त होने पर जैसा कहोगे...

पर्व०—मैं कह चुका हूँ आर्य्य चाणक्य ! इस शरीर में या धन में, विभव में या अधिकार में, मेरी स्पृहा नहीं रह गई। मेरी सेना के महाबलाधिकृत सिंहरण और मेरा कोष आपका है।

चन्द्र०—मैं आप लोगों का कृतज्ञ होकर मित्रता को लघु नहीं बनाना चाहता। चंद्रगुप्त सदैव आप लोगों का वही सहचर है।

चाणक्य—परन्तु तुम्हें अभी मगध नहीं जाना होगा। अभी जो मगध से संदेश मिले हैं, वे बड़े भयानक हैं! सेनापति, तुम्हारे पिता कारागार में हैं! और भी. .....

चन्द्र०—इतने पर भी आप मुझे मगध जाने से रोक रहे हैं!

चाणक्य—यह प्रश्न अभी मत करो।

[चन्द्रगुप्त सिर झुका लेता है, एक पत्र लिये मालविका का प्रवेश]

माल०—यह सेनापति के नाम पत्र है।

चंद्र०-(पढ़ कर)-आर्य्य, मैं जा भी नहीं सकता।

चाणक्य—क्यों ?

चन्द्र०—युद्ध का आह्वान है। द्वन्द्व के लिए फिलिप्स का निमंत्रण है।

चाणक्य—तुम डरते तो नहीं ?

चन्द्र०—आर्य्य ! आप मेरा उपहास कर रहे हैं ?

चाणक्य-(हँस कर)-यह ठीक है, पौरुष ! तुम्हारा यह।

रहना हानिकारक होगा। उत्तरापथ की दासता के अवशिष्ट चिह्न फिलिप्स का नाश निश्चित है। चन्द्रगुप्त उसके लिये उपयुक्त है। परन्तु यवनों से तुम्हारा फिर संघर्ष मुझे ईप्सित नहीं है। यहाँ रहने से तुम्हीं पर सन्देह होगा; इसलिये तुम मगध चलो। और सिंहरण! तुम सन्नद्ध रहना, यवन-विद्रोह तुम्हीं को शांत करना होगा।

[सब का प्रस्थान]

५

मगध में नन्द की रङ्गशाला

[नन्द का प्रवेश]

नन्द – सुवासिनी !

सुवा० – देव !

नन्द—कहीं दो घड़ी चैन से बैठने की छुट्टी भी नहीं, तुम्हारी छाया में विश्राम करने आया हूँ !

सुवा०—प्रभु, क्या आज्ञा है ? अभिनय देखने की इच्छा है ?

नन्द—नहीं सुवासिनी, अभिनय तो नित्य देख रहा हूँ। छल, प्रतारणा, विद्रोह के अभिनय देखते-देखते आँखें जल रही हैं। सेनापति मौर्य्य—जिसके बल पर मैं भूला था, जिसके विश्वास पर मैं निश्चिन्त सोता था; विद्रोही-पुत्र चन्द्रगुप्त को सहायता पहुँचाता है ! उसी का न्याय करना था--आजीवन अंधकूप का दण्ड देकर आ रहा हूँ। मन काँप रहा है—न्याय हुआ कि अन्याय ! हृदय संदिग्ध है। सुवासिनी ! किस पर विश्वास करूँ !

सुवा०—अपने परिजनों पर देव !

नन्द—अमात्य राक्षस भी नहीं; मैं तो ऊब गया हूँ।

सुवा०—तो आसव ले आऊँ ?

नन्द—ले आओ !—(सुवासिनी जाती है)—सुवासिनी कितनी सरल है ! प्रेम और यौवन के शीतल मेघ इस लहराती ज्वाला पर मँडरा रहे हैं। परन्तु—

[दुर्ग[illegible] का [illegible] लिये प्रवेश, नन्द [illegible] देखता है।]

नन्द—सुवासिनी ! कुछ गाओ,—वही उन्मादक गान !

[सुवासिनी गाती है]

आज इस यौवन के माधवी कुञ्ज में कोकिल बोल रहा !

मधु पीकर पागल हुआ करता प्रेम-प्रलाप,

शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप।

लाज के बंधन खोल रहा !

बिछल रही है चाँदनी छवि-मतवाली रात,

कहती कम्पित अधर से बहकाने की बात।

कौन मधु मदिरा घोल रहा ?

नन्द—सुवासिनी ! जगत् में और भी कुछ है—ऐसा मुझे तो नहीं प्रतीत होता ! क्या उस कोकिल की पुकार केवल तुम्हीं सुनती हो ? ओह ! मैं इस स्वर्ग से कितनी दूर था ! सुवासिनी !

[कामुक की-सी चेष्टा करता है]

सुवासिनी—भ्रम है महाराज ! एक वेतन पानेवाली का यह अभिनय है।

नन्द—कभी नहीं, यह भ्रम है तो समस्त संसार मिथ्या है। तुम सच कहती हो, निर्बोध नन्द ने कभी वह पुकार नहीं सुनी। सुन्दरी ! तुम मेरी प्राणेश्वरी हो।

सुवासिनी—(सहसा चकित होकर)—मैं दासी हूँ महाराज !

नन्द—यह प्रलोभन देकर ऐसी छलना ! नन्द नहीं भूल सकता सुवासिनी। आओ—(हाथ पकड़ता है)

सुवासिनी—(भयभीत होकर)—महाराज ! मैं अमात्य राक्षस की धरोहर हूँ, सम्राट् की भोग्या नहीं बन सकती।

नन्द—अमात्य राक्षस इस पृथ्वी पर तुम्हारा प्रणयी होकर नहीं जी सकता।

सुवासिनी—तो उसे खोजने के लिये स्वर्ग में जाऊँगी !

[नन्द उसे बलपूर्वक पकड़ लेता है। ठीक उसी समय अमात्य का प्रवेश]

नन्द—(उसे देखते ही छोड़ता हुआ)—तुम ! अमात्य राक्षस !

राक्षस—हाँ सम्राट् ! एक अबला पर अत्याचार न होने देने के लिये ठीक समय पर पहुँचा।

नन्द—यह तुम्हारी अनुरक्ता है राक्षस ! मैं लज्जित हूँ।

राक्षस—मैं प्रसन्न हुआ कि सम्राट् अपने को परखने की चेष्टा करते हैं। अच्छा, तो इस समय जाता हूँ। चलो सुवासिनी !

[दोनों जाते हैं]

६

कुसुमपुर का प्रान्त भाग—चाणक्य, मालविका और अलका

माल०—सुवासिनी और राक्षस स्वतन्त्र हैं। उनका परिणय शीघ्र ही होगा! इधर मौर्य कारागार में; वररुचि अपदस्थ; नागरिक लोग नन्द की उच्छृंखलताओं से असन्तुष्ट हैं।

चाणक्य—ठीक है, समय हो चला है! मालविका, तुम नर्त्तकी बन सकती हो?

माल०—हाँ; मैं नृत्यकला जानती हूँ।

चाणक्य—तो नन्द की रंगशाला में जाओ और लो यह मुद्रा तथा पत्र; राक्षस का विवाह होने के पहले—ठीक एक घड़ी पहले—नन्द के हाथ में दे देना! और पूछने पर बता देना कि अमात्य राक्षस ने सुवासिनी को देने के लिये कहा था। परन्तु मुझसे भेंट न हो सकी, इसलिये यह उन्हें लौटा देने को लाई हूँ

माल०—(स्वगत)—क्या? असत्य बोलना होगा! चंद्रगुप्त के लिये सब कुछ करूँगी। (प्रकट)—अच्छा।

चाणक्य—मैंने सिंहरण को लिख दिया था कि चन्द्रगुप्त को शीघ्र यहाँ भेजो। तुम यवनों के सिर उठाने पर उन्हें शान्त करके आना, तब तक अलका मेरी रक्षा कर लेगी। मैं चाहता हूँ कि सेना सब वणिकों के रूप में धीरे-धीरे कुसुमपुर में इकट्ठी हो जाय। जिस दिन राक्षस का व्याह होगा, उसी दिन विद्रोह होगा और उसी दिन चन्द्रगुप्त राजा होगा।

अलका—परन्तु फिलिप्स के द्वंद्व-युद्ध से चन्द्रगुप्त को लौट तो आने दीजिये, क्या जाने क्या हो !

चाणक्य—क्या हो ! वही होकर रहेगा जिसे चाणक्य ने विचार करके ठीक कर लिया है। किन्तु अवसर पर एक क्षण का विलम्ब असफलता का प्रवर्त्तक हो जाता है।

[मालविका जाती है]

अलका—गुरुदेव, महानगरी कुसुमपुरी का ध्वंस और नन्द-पराजय इस प्रकार सम्भव है ?

चाणक्य—अलके ! चाणक्य अपना कार्य्य, अपनी बुद्धि से साधन करेगा। तुम देखती भर रहो और जो मैं बताऊँ, करती चलो। मालविका अभी बालिका है, उसकी रक्षा आवश्यक है। उसे देखो तो।

[अलका जाती है

चाणक्य—वह सामने कुसुमपुर है, जहाँ मेरे जीवन का प्रभात हुआ था। मेरे उस सरल हृदय में उत्कट इच्छा थी कि कोई भी, सुन्दर मन मेरा साथी हो। प्रत्येक नवीन परिचय में उत्सुकता थी और उसके लिये मन में सर्वस्व लुटा देने की सन्नद्धता थी। परन्तु संसार—कठोर संसार ने सिखा दिया कि तुम्हें परखना होगा। समझदारी आने पर यौवन चला जाता है—जब तक माला गूँथी जाती है, तब तक फूल कुम्हला जाते हैं। जिससे मिलने के सम्भार की इतनी धूमधाम, सजावट, बनावट होती है उसके आने तक मनुष्य हृदय को सुन्दर और उपयुक्त नहीं

वनाये रह सकता। मनुष्य की चंचल स्थिति तब तक उस श्यामल कोमल हृदय को मरुभूमि बना देती है। यही तो विषमता है। मैं—अविश्वास, कूटचक्र और छलनाओं का कंकाल; कठोरताओं का केन्द्र! आह! तो इस विश्व में मेरा कोई सुहृद् नहीं? है, मेरा संकल्प; अब मेरा आत्माभिमान ही मेरा मित्र है। और थी एक क्षीण रेखा, वह जीवन-पट से धुल चली है। धुल जाने दूँ? सुवासिनी! न न न, वह कोई नहीं। मैं अपनी प्रतिज्ञा पर आसक्त हूँ। भयानक रमणीयता है। आज उस प्रतिज्ञा में जन्मभूमि के प्रति कर्त्तव्य का भी यौवन चमक रहा है। तृण-शय्या पर आधे पेट खाकर सो रहनेवाले के सिर पर दिव्य यश का स्वर्ण-मुकुट! और सामने सफलता का स्मृति-सौध (आकाश की ओर देखकर) वह, इन लाल बादलों में दिग्दाह का धूम मिल रहा है! भीषण रव से सब जैसे चाणक्य का नाम चिल्ला रहे हैं। (देखकर) हैं! यह कौन भूमि-संधि तोड़ कर सर्प के समान निकल रहा है! छिप कर देखूं—

[छिप जाता है। एक ढूह की मिट्टी गिरती है, उसमें से शकटार वनमानुष के समान निकलता है।]

शक०—(चारों ओर देख कर आँख बन्द कर लेता है, फिर खोलता हुआ)—आँखें नहीं सह सकतीं, इन्हीं प्रकाश-किरणों के लिये तड़प रही थीं! ओह तीखी हैं! तो क्या मैं जीवित हूँ? कितने दिन हुए, कितने महीने, कितने वर्ष? नहीं स्मरण है। अन्धकूप की प्रधानता सर्वोपरि थी। सात लड़के भूख से तड़प

कर मरे। कृतज्ञ हूँ उस अन्धकार का, जिसने उन विवर्ण मुखों को न देखने दिया! केवल उनके दम तोड़ने का क्षीण शब्द सुन सका। फिर भी जीवित रहा—सत्तू और नमक पानी से मिलाकर, अपनी नसों से रक्त पीकर जीवित रहा! प्रतिहिंसा के लिये! पर अब शेष है, दम घुट रहा है। ओह!
(गिर पड़ता है)

[चाणक्य पास आकर कपड़ा निचोड़ कर मुँह में जल डाल सचेत करता है।]

चाणक्य—आह तुम कोई दुखी मनुष्य हो! घबराओ मत, मैं तुम्हारी सहायता के लिये प्रस्तुत हूँ।

शक०—(ऊपर देख कर)—तुम सहायता करोगे! आश्चर्य! मनुष्य मनुष्य की सहायता करेगा, वह उसे हिंस्र पशु के समान नोच न डालेगा! हाँ, यह दूसरी बात है कि वह जोंक की तरह बिना कष्ट दिये रक्त चूसे। जिसमें कोई स्वार्थ न हो, ऐसी सहायता? तुम भूखे भेड़िये!

चाणक्य—अभागे मनुष्य! सब से चौंक कर अलग न उछल! अविश्वास की चिनगारी पैरों के नीचे से हटा। तुम-जैसे दुखी बहुत से पड़े हैं। यदि सहायता नहीं तो परस्पर का स्वार्थ ही सही।

शक०—दुःख! दुःख का नाम सुना होगा, या कल्पित आशंका से तुम उसका नाम लेकर चिल्ला उठते होगे। देखा है कभी—सात-सात गोद के लालों को भूख से तड़प कर मरते?

अन्धकार की घनी चादर में, बरसों भूगर्भ की जीवित समाधि में एक दूसरे को, अपना आहार देकर स्वेच्छा से मरते-देखा है—प्रतिहिंसा की स्मृति को ठोकरें मार-मार कर जगाते, और प्राण-विसर्जन करते? देखा है कभी यह कष्ट—उन सबों ने अपना आहार मुझे दिया और पिता होकर भी मैं पत्थर-सा जीवित रहा! उनका आहार खा डाला—उन्हें मरने दिया! जानते हो क्यों? वे सुकुमार थे, वे सुख की गोद में पले थे, वे नहीं सहन कर सकते थे, अतः सब मर जाते। मैं बच रहा प्रतिशोध के लिये! दानवी प्रतिहिंसा के लिये! ओह! उस अत्याचारी नर-राक्षस की अँतड़ियों में से खींचकर एक बार रक्त का फुहारा छोड़ता!—इस पृथ्वी को उसी से रंगी देखता!

चाणक्य—सावधान! (शकटार को उठाता है।)

शक०—सावधान हों वे, जो दुर्बलों पर अत्याचार करते हैं! मैं पीड़ित, पददलित, सब तरह लुटा हुआ! जिसने पुत्रों की हड्डियों से सुरंग खोदा है, नखों से मिट्टी हटाई है, उसके लिये सावधान रहने की आवश्यकता नहीं। मेरी वेदना अपने अन्तिम अस्त्रों से सुसज्जित है।

चाणक्य—तो भी, तुमको प्रतिशोध लेना है! हम लोग एक ही पथ के पथिक हैं। घबराओ मत। क्या तुम्हारा और कोई भी इस संसार में जीवित नहीं?

शक०—बची थी, पर न जाने कहाँ है। एक बालिका—अपनी माता की स्मृति—सुवासिनी। पर अब कहाँ है, कौन जाने!

चाणक्य—क्या कहा ? सुवासिनी ?

शक०—हाँ सुवासिनी ।

चाणक्य—और तुम शकटार हो ?

शक०—(चाणक्य का गला पकड़ कर)—घोंट दूँगा गला—यदि फिर यह नाम तुमने लिया ! मुझे नन्द से प्रतिशोध ले लेने दो, फिर चाहे डौंडी पीटना ।

चाणक्य—(उसका हाथ हटाते हुए)—वह सुवासिनी नन्द की रंगशाला में है । मुझे पहचानते हो ?

शक०—नहीं तो—(देखता है)

चाणक्य—तुम्हारे प्रतिवेशी, सखा ब्राह्मण चणक का पुत्र विष्णुगुप्त । तुम्हारी दिलाई हुई जिसकी ब्रह्मवृत्ति छीन ली गई, जो तुम्हारा सहकारी जान कर निर्वासित कर दिया गया, मैं उसी चणक का पुत्र चाणक्य हूँ, जिसको शिखा पकड़ कर राजसभा में खींची गयी, जो वन्दीगृह में मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा था ! मुझ पर विश्वास करोगे ?

शक०—(विचारता हुआ खड़ा हो जाता है)—करूँगा, जो तुम कहोगे वही करूँगा । किसी तरह प्रतिशोध चाहिये ।

चाणक्य—तो चलो मेरी झोंपड़ी में, इस सुरंग को घास-फूस से ढक दो ।

[दोनों ढँक कर जाते हैं]

७

नन्द के राजमन्दिर का एक प्रकोष्ठ।

नन्द—आज क्यों मेरा मन अनायास ही शंकित हो रहा है। कुछ नहीं……होगा कुछ।

[सेनापति मौर्य्य की स्त्री को साथ लिये हुए वररुचि का प्रवेश]

नन्द—कौन है यह स्त्री ?

वररुचि—जय हो देव, यह सेनापति मौर्य्य की स्त्री है।

नन्द—क्या कहना चाहती है ?

स्त्री—राजा प्रजा का पिता है। वही उसके अपराधों को क्षमा करके सुधार सकता है। चन्द्रगुप्त बालक है, सम्राट् ! उसके अपराध मगध से कोई सम्बन्ध नहीं रखते, तब भी वह निर्वासित है। परन्तु सेनापति पर क्या अभियोग है ? मैं असहाय मगध की प्रजा श्रीचरणों में निवेदन करती हूँ—मेरा पति छोड़ दिया जाय। पति और पुत्र दोनों से न वञ्चित की जाऊँ।

नन्द—रमणी ! राजदण्ड पति और पुत्र के मोहजाल से सर्वथा स्वतन्त्र है। षड्यन्त्रकारियों के लिये वह निष्ठुर है, निर्म्मम है ! कठोर है ! तुम लोग आग की ज्वाला से खेलने का फल भोगो। नन्द इन आँसू-भरी आँखों तथा अञ्चल पसार कर भिक्षा के अभिनय में नहीं भुलवाया जा सकता।

स्त्री—ठीक है महाराज ! मैं ही भ्रम में थी। सेनापति मौर्य्य का ही तो यह अपराध है। जब कुसुमपुर की समस्त प्रजा विरुद्ध

थी, जब जारज-पुत्र के रक्त-रँगे हाथों से सम्राट् महापद्म की लीला शेष हुई थी, तभी सेनापति को चेतना चाहिये था ! कृतघ्न के साथ उपकार किया है, यह उसे नहीं मालूम था !

नन्द—चुप ! दुष्टे ! (उसका केश पकड़ कर खींचना चाहता है, वररुचि बीच में आकर रोकता है)

वर०—महाराज ! सावधान ! यह अबला है, स्त्री है !

नन्द—यह मैं जानता हूँ कात्यायन ! हटो।

वर०—आप जानते हो, पर इस समय आपको विस्मृत हो गया है।

नन्द—तो क्या मैं तुम्हें भी इसी कुचक्र में लिप्त समझूँ ?

वर०—यह महाराज की इच्छा पर निर्भर है। और, किसी का दास न रहना मेरी इच्छा पर; मैं शस्त्र समर्पण करता हूँ !

नन्द—(वररुचि का छुरा उठा कर)—विद्रोह ! ब्राह्मण हो न तुम; मैंने अपने को स्वयं धोखा दिया ! जाओ। परन्तु, ठहरो ! प्रतिहार !

[प्रतिहार सामने आता है]

नन्द—इसे वन्दी करो ! और, इस स्त्री के साथ मौर्य्य के समीप पहुँचा दो।

[प्रहरी दोनों को वन्दी करते हैं]

वर०—नन्द ! तुम्हारे पाप का घड़ा फूटना ही चाहता है ! अत्याचार की चिनगारी साम्राज्य का हरा-भरा कानन दग्ध कर

देगी ! न्याय का गला घोंट कर तुम उस भीषण पुकार को नहीं दबा सकोगे जो तुम तक पहुँचती है अवश्य, किन्तु चाटुकारों-द्वारा और ही ढंग से ।

नन्द—बस ले जाओ (सब का प्रस्थान) ।

नन्द—(स्वगत) क्या अच्छा नहीं किया ? परन्तु ये सब मिले हैं, जाने दो ! (एक प्रतिहार का प्रवेश) क्या है ?

प्रतिहार—जय हो देव ! एक संदिग्ध स्त्री राजमन्दिर में घूमती हुई पकड़ी गई है । उसके पास अमात्य राक्षस की मुद्रा और एक पत्र मिला है ।

नन्द—अभी ले आओ ।

[प्रतिहार जाकर मालविका को साथ लाता है]

नन्द—तुम कौन हो ?

माल०—मैं एक स्त्री हूँ, महाराज !

नन्द—पर तुम यहाँ किसके पास आई हो ?

माल०—मैं-मैं, मुझे किसी ने शतद्रु-तट से भेजा है । मैं पंथ में बीमार हो गई थी, विलम्ब हुआ ।

नन्द—कैसा विलम्ब ?

माल०—इस पत्र को सुवासिनी नाम की स्त्री के पास पहुँचाने में ।

नन्द—तो किसने तुम्हें भेजा है ?

माल०—मैं नाम तो नहीं जानती ।

नन्द—हूँ ! (प्रतिहार से)—पत्र कहाँ है ?

[प्रतिहार पत्र और मुद्रा देता है, नन्द उसे पढ़ता है]

नन्द—तुमको बतलाना पड़ेगा किसने तुमको यह पत्र दिया है ? बोलो, शीघ्र बोलो, राक्षस ने भेजा था ?

माल०—राक्षस नहीं, वह मनुष्य था।

नन्द—दुष्टे, शीघ्र बता ! वह राक्षस ही रहा होगा।

माल०—जैसा आप समझ लें।

नन्द—(क्रोध से) प्रितहार ! इसे भी ले जाओ—उस विद्रोहियों की माँद में ! ठहरो, पहले जाकर शीघ्र सुवासिनी और राक्षस को, चाहे जिस अवस्था में हों, ले आओ !

[नन्द चिंतित भाव से दूसरी ओर टहलता है; मालविका बन्दी होती है]

नन्द—आज सबको एक साथ ही सूली पर चढ़ा दूँगा। नहीं—(पैर पटक कर)—हाथियों के पैरों के तले कुचलवाऊँगा। यह कथा समाप्त होनी चाहिये। नंद नीचजन्मा है न ! यह विद्रोह उसी के लिये किया जा रहा है, तो फिर उसे भी दिखा देना है कि मैं क्या हूँ, यह नाम सुन कर लोग काँप उठें ! प्रेम न सही, भय का ही सम्मान हो।

[पट-परिवर्तन]

८

कुसुमपुर के प्रान्त-भाग में—पथ। चाणक्य और पर्वतेश्वर

चाणक्य—चन्द्रगुप्त कहाँ है?

पर्व०—सार्थवाह के रूप में युद्ध-व्यवसायियों के साथ आ रहे हैं। शीघ्र ही पहुँच जाने की सम्भावना है।

चाणक्य—और द्वन्द्व में क्या हुआ?

पर्व०—चंद्रगुप्त ने बड़ी वीरता से वह युद्ध किया। समस्त उत्तरापथ में फिलिप्स के मारे जाने पर नया उत्साह फैल गया है। आर्य्य, बहुत से प्रमुख यवन और आर्य्यगण की उपस्थिति में वह युद्ध हुआ—वह खड्ग-परीक्षा देखने के योग्य थी! वह वीर-दृश्य अभिनन्दनीय था।

चाणक्य—यवन लोगों के क्या भाव थे?

पर्व०—सिंहरण अपनी सेना के साथ रंगशाला की रक्षा कर रहा था, कुछ हलचल तो हुई, पर वह पराजय का क्षोभ था। यूडेमिस, जो उसका सहकारी था, अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। किसी प्रकार वह ठंढा पड़ा। यूडेमिस सिकन्दर की आज्ञा की प्रतीक्षा में रुका था। अकस्मात् सिकन्दर के मरने का समाचार मिला! यवन लोग अब अपनी ही सोच रहे हैं। चन्द्रगुप्त सिंहरण को वहीं छोड़ कर यहाँ चला आया, क्योंकि आपका आदेश था।

[अलका का प्रवेश]

अलका—गुरुदेव, यज्ञ का प्रारम्भ है।

चाणक्य—मालविका कहाँ है ?

अलका—वह वंदी की गई और राक्षस इत्यादि भी वंदी होने ही वाले हैं। वह भी ठीक ऐसे अवसर पर जब उनका परिणय हो रहा है ! क्योंकि आज ही······

चाणक्य—तब तुम जाओ, अलके ! उस उत्सव से तुम्हें अलग न रहना चाहिये। उनके पकड़े जाने के अवसर पर ही नगर भर में उत्तेजना फैल सकती है। जाओ शीघ्र।

[अलका का प्रस्थान]

पर्व०—मुझे क्या आज्ञा है ?

चाणक्य—कुछ चुने हुए अश्वारोहियों को साथ लेकर प्रस्तुत रहना। चन्द्रगुप्त जब भीतर से युद्ध प्रारंभ करे, उस समय तुमको नगर-द्वार पर आक्रमण करना होगा।

[गुफा का द्वार खुलना...मौर्य्य, मालविका, शकटार, वररुचि, पीछे-पीछे चन्द्रगुप्त की जननी का प्रवेश]

चाणक्य—आओ मौर्य्य !

मौर्य्य—हम लोगों के उद्धारकर्त्ता आप ही महात्मा चाणक्य हैं ?

माल०—हाँ, यही हैं।

मौर्य्य—प्रणाम।

चाणक्य—शत्रु से प्रतिशोध लेने के लिये जियो सेनापति ! नंद के पापों की पूर्णता ने तुम्हारा उद्धार किया है। अब तुम्हारा अवसर है।

मौर्य्य—इन दुर्बल हड्डियों को अन्धकूप की भयानकला खट-खटा रही है।

शकटार—और रक्त-मय गंभीर वीभत्स दृश्य, हत्या का निष्ठुर आह्वान कर रहा है।

[चन्द्रगुप्त का प्रवेश—माता-पिता के चरण छूता है]

चंद्र०—पिता ! तुम्हारी यह दशा !! एक-एक पीड़ा की, प्रत्येक निष्ठुरता की गिनती होगी। मेरी माँ ! उन सब का प्रतिकार होगा, प्रतिशोध लिया जायगा ! ओह, मेरा जीवन व्यर्थ है ! नन्द !

चाणक्य—चन्द्रगुप्त, सफलता का एक ही क्षण होता है। आवेश से और कर्त्तव्य से वहुत अन्तर है।

चंद्रगुप्त—गुरुदेव, आज्ञा दीजिये !

चाणक्य—देखो उधर, नागरिक लोग आ रहे हैं। संभवतः यही अवसर है तुम लोगों के भीतर जाने का और विद्रोह फैलाने का।

[नागरिकों का प्रवेश]

पहला नागरिक—वेण और कंस का शासन क्या दूसरे प्रकार का रहा होगा ?

दूसरा नाग०—व्याह की वेदी से वर-वधू को घसीट ले जाना, इतने वड़े नागरिक का यह अपमान ! अन्याय है।

तीसरा नाग०—सो भी अमात्य राक्षस और सुवासिनी को ! कुसुमपुर के दो सुन्दर फूल !

चौथा नाग०—और सेनापति, मंत्री, सबों को अंधकूप में डाल देना।

मौर्य्य—मंत्री, सेनापति और अमात्यों को वंदी बना कर जो राज्य करता है, वह कैसा अच्छा राजा है नागरिक! उसकी कैसी अद्भुत योग्यता है! मगध को गर्व होना चाहिये।

पहला नाग०—गर्व नहीं वृद्ध! लज्जा होनी चाहिये। ऐसा जघन्य अत्याचार!

वर०—यह तो मगध का पुराना इतिहास है। जरासंध का यह अखाड़ा है। यहाँ एकाधिपत्य की कटुता सदैव से अभ्यस्त है।

दूसरा नाग०—अभ्यस्त होने पर भी अब असह्य है!

शक०—आज आप लोगों को बड़ी वेदना है, एक उत्सव का भंग होना अपनी आँखों से देखा है; नहीं तो जिस दिन शकटार को दण्ड मिला था, एक अभिजात नागरिक की सकुटुम्ब हत्या हुई थी, उस दिन जनता कहाँ सो रही थी!

तीसरा नाग०—सच तो, पिता के समान हम लोगों की रक्षा करने वाला मंत्री शकटार—हे भगवान्!

शक०—मैं ही हूँ। कंकाल-सा जीवित समाधि से उठ खड़ा हुआ हूँ। मनुष्य मनुष्य को इस तरह कुचल कर स्थिर न रह सकेगा! मैं पिशाच बन कर लौट आया हूँ—अपने निरपराध सात पुत्रों की निष्ठुर हत्या का प्रतिशोध लेने के लिये! चलोगे साथ?

चौथा नाग०—मंत्री शकटार! आप जीवित हैं!

शक०—हाँ; महापद्म के जारज पुत्र नंद की—वधिक, हिंस्र-पशु नन्द की—प्रतिहिंसा का लक्ष्य शकटार मैं ही हूँ!

सब नाग०—हो चुका न्यायाधिकरण का ढोंग! जनता की शुभ कामना करने की प्रतिज्ञा नष्ट हो गई। अब नहीं, आज न्यायाधिकरण में पूछना होगा!

मौर्य्य—और मेरे लिये भी कुछ......

नाग०—तुम......?

मौर्य्य—सेनापति मौर्य्य—जिसका तुम लोगों को पता ही न था।

नाग०—आश्चर्य्य! हम लोग आज क्या स्वप्न देख रहे हैं? अभी लौटना चाहिये। चलिये आप लोग भी।

शक०—परन्तु मेरी रक्षा का भार कौन लेता है?

[सब इधर-उधर देखने लगते हैं, चन्द्रगुप्त तन कर खड़ा हो जाता है]

चन्द्र०—मैं लेता हूँ! मैं उन सब पीड़ित, आघात-जर्जर पद-दलित लोगों का संरक्षक हूँ जो मगध की प्रजा हैं।

चाणक्य—साधु! चन्द्रगुप्त!

[सहसा सब उत्साहित हो जाते हैं, पर्वतेश्वर और चाणक्य तथा वररुचि को छोड़कर सब जाते हैं]

वररुचि—चाणक्य! यह क्या दावाग्नि फैला दी तुमने?

चाणक्य—उत्पीड़न की चिनगारी को अत्याचारी अपने ही

अञ्चल में छिपाये रहता है ! कात्यायन ! तुमने अन्धकूप का सुख क्यों लिया ?—कोई अपराध तुमने किया था ?

वर०—नन्द की भूल थी। वह अब भी सुधारा जा सकता है। ब्राह्मण ! क्षमानिधि ! भूल जाओ !

चाणक्य—प्रतिज्ञा पूर्ण होने पर हम तुम साथ ही वैखानस होंगे कात्यायन शक्ति हो जाने दो, फिर क्षमा का विचार करना। चलो पर्वतेश्वर ! सावधान।

[सब का प्रस्थान]

६

नन्द की रंगशाला—सुवासिनी और राक्षस बन्दी-वेश में

नन्द—अमात्य राक्षस, यह कौन-सी मंत्रणा थी ? यह पत्र तुम्हीं ने लिखा है ?

राक्षस—(पत्र लेकर पढ़ता हुआ)—"सुवासिनी, उस कारागार से शीघ्र निकल भागो, इस स्त्री के साथ मुझसे आकर मिलो। मैं उत्तरापथ में नवीन राज्य की स्थापना कर रहा हूँ। नन्द से फिर समझ लिया जायगा" इत्यादि। (नन्द की ओर देख कर) आश्चर्य, मैंने तो यह नहीं लिखा ! यह कैसा प्रपंच है,—और किसी का नहीं, उसी ब्राह्मण चाणक्य का महाराज, सतर्क रहिये, अपने अनुकूल परिजनों पर भी, अविश्वास न कीजिये। कोई भयानक घटना होने वाली है, यह उसी का सूत्रपात है !

नन्द—इस तरह मैं प्रतारित नहीं किया जा सकता, देखो यह तुम्हारी मुद्रा है ! (मुद्रा देता है)

[राक्षस देख कर सिर नीचा कर लेता है]

नन्द—कृतघ्न ! बोल, उत्तर दे !

राक्षस—मैं कहूँ भी तो आप मानने ही क्यों लगे !

नन्द—तो आज तुम लोगों को भी उसी अन्धकूप में जाना होगा। प्रतिहार !

[राक्षस बन्दी किया जाता है। नागरिकों का प्रवेश]

[राक्षस को शृंखला में जकड़ा हुआ देख कर उन सबों में उत्तेजना]

नाग०—सम्राट्! आपसे मगध की प्रजा प्रार्थना करती है कि नागरिक राक्षस और अन्य लोगों पर भी जो राजदण्ड-द्वारा किये गये अत्याचार हैं, उनका फिर से निराकरण होना चाहिये।

नन्द—क्या? तुम लोगों को मेरे न्याय में अविश्वास है?

नाग०—इसके प्रमाण हैं—शकटार, वररुचि और मौर्य्य!

नन्द—(उन लोगों को देख कर) शकटार! तू अभी जीवित है।

शक०—जीवित हूँ नन्द! नियति सम्राटों से भी प्रबल है।

नन्द—यह मैं क्या देखता हूँ! प्रतिहार! पहले इन विद्रोहियों को बन्दी करो। क्या तुम लोगों ने इन्हें छुड़ाया है?

नाग०—उनका न्याय हम लोगों के सामने किया जाय, जिससे हम लोगों को राज-नियमों में विश्वास हो। सम्राट्! न्याय को गौरव देने के लिये, इनके अपराध सुनने की इच्छा आपकी प्रजा रखती है।

नन्द—प्रजा की इच्छा से राजा को चलना होगा?

नाग०—हाँ, महाराज!

नन्द—क्या तुम सब के सब विद्रोही हो?

नाग०—यह, सम्राट् अपने हृदय से पूछ देखें!

शक०—मेरे सात निरपराध पुत्रों का रक्त!

नाग०—न्यायाधिकरण की आड़ में इतनी बड़ी नृशंसता!

नन्द—प्रतिहार! इन सब को वन्दी बनाओ!

[राज-प्रहरियों का सब को बाँधने का उद्योग, दूसरी ओर से सैनिकों के साथ चन्द्रगुप्त का प्रवेश]

चन्द्र०—ठहरो (सब स्तब्ध रह जाते हैं) महाराज नन्द! हम सब आपकी प्रजा हैं, मनुष्य हैं, हमें पशु बनने का अवसर न दीजिये।

वररुचि—विचार की तो बात है, यदि सुव्यवस्था से काम चल जाय तो उपद्रव क्यों हो?

नन्द—(स्वगत) विभीषिका! विपत्ति! सब अपराधी और विद्रोही एकत्र हुए हैं (कुछ सोच कर प्रकट) अच्छा मौर्य! तुम हमारे सेनापति हो और तुम वररुचि! हमने तुम लोगों को क्षमा कर दिया।

शक०—और हम लोगों से पूछो, पूछो नन्द! अपनी नृशंसताओं से पूछो! क्षमा? कौन करेगा! तुम? कदापि नहीं। तुम्हारे घृणित अपराधों का न्याय होगा।

नन्द—(तन कर)—तब रे मूर्खो! नन्द की निष्ठुरता! प्रतिहार! राजसिंहासन संकट में है! आओ, आज हमें प्रजा से लड़ना है!

[प्रतिहार प्रहरियों के साथ आगे बढ़ता है—कुछ युद्ध होने के साथ ही राजपक्ष के कुछ लोग मारे जाते हैं, और एक सैनिक आकर नगर के ऊपर आक्रमण होने की सूचना देता है। युद्ध करते-करते चन्द्रगुप्त नन्द को वन्दी बनाता है]

[चाणक्य का प्रवेश]

चाणक्य—नन्द ! शिखा खुली है । फिर खिंचवाने की इच्छा हुई है, इसीलिये आया हूँ । राजपद के अपवाद नन्द ! आज तुम्हारा विचार होगा !

नन्द—तुम ब्राह्मण ! मेरे टुकड़ों से पले हुए ! दरिद्र ! तुम मगध के सम्राट् का विचार करोगे ! तुम सब लुटेरे हो, डाकू हो ! विप्लवी हो—अनार्य्य हो !

चाणक्य—(राजसिंहासन के पास जाकर) नन्द ! तुम्हारे ऊपर इतने अभियोग हैं—महापद्म की हत्या, शकटार को वन्दी करना—उसके सातों पुत्रों को भूख से तड़पा कर मारना ! सेना-पति मौर्य्य की हत्या का उद्योग—उसकी स्त्री को और वररुचि को वन्दी बनाना ! कितनी ही कुलीन कुमारियों का सतीत्व-नाश—नगर-भर में व्यभिचार का स्रोत बहाना ! ब्रह्मस्व और अनाथों की वृत्तियों का अपहरण ! अन्त में सुवासिनी पर अत्याचार—शकटार की एकमात्र बची हुई सन्तान, सुवासिनी, जिसे तुम अपनी घृणित पाशव-वृत्ति का···!

नागरिक—(बीच में रोक कर हल्ला मचाते हुए)—पर्य्याप्त है ! यह पिशाच-लीला और सुनने की आवश्यकता नहीं, सब प्रमाण यहीं उपस्थित हैं ।

चन्द्र०—ठहरिये !—(नन्द से)—कुछ उत्तर देना चाहते हैं ?

नन्द—कुछ नहीं ।

["वध करो ! हत्या करो !"—का आतंक फैलता है]

चाणक्य—तब भी कुछ समझ लेना चाहिये नंद ! हम ब्राह्मण हैं, तुम्हारे लिये, भिक्षा माँगकर तुम्हें जीवन-दान दे सकते हैं। लोगे ?

("नहीं मिलेगी, नहीं मिलेगी" की उत्तेजना।)

[कल्याणी को बंदिनी बनाये पर्वतेश्वर का प्रवेश]

नन्द—आह बेटी, असह्य ! मुझे क्षमा करो। चाणक्य, मैं कल्याणी के संग जंगल में जाकर तपस्या करना चाहता हूँ।

चाणक्य—नागरिक वृंद ! आप लोग आज्ञा दें—नन्द को जाने की आज्ञा !

शक०—(छुरा निकालकर नन्द की छाती में घुसेड़ देता है)—सात हत्याएँ हैं ! यदि नन्द सात जन्मों में मेरे ही द्वारा मारा जाय तो मैं उसे क्षमा कर सकता हूँ। मगध नन्द के बिना भी जी सकता है !

वररुचि—अनर्थ !

[सब स्तब्ध रह जाते हैं]

राक्षस—चाणक्य, मुझे भी कुछ बोलने का अधिकार है ?

चन्द्र०—अमात्य राक्षस का बंधन खोल दो ! आज मगध के सब नागरिक स्वतंत्र हैं !

[राक्षस, सुवासिनी, कल्याणी का बंधन खुलता है]

राक्षस—राष्ट्र इस तरह नहीं चल सकता।

चाणक्य—तब ?

राक्षस—परिषद् की आयोजना होनी चाहिये।

नागरिकवृन्द—राक्षस, वररुचि, शकटार, चन्द्रगुप्त और चाणक्य की सम्मिलित परिषद् की हम घोषणा करते हैं।

चाणक्य—परंतु उत्तरापथ के समान गणतंत्र की योग्यता मगध में नहीं, और मगध पर विपत्ति की भी संभावना है। प्राचीन काल से मगध साम्राज्य रहा है, इसीलिये यहाँ एक सबल और सुनियंत्रित शासक की आवश्यकता है। आप लोगों को यह जान लेना चाहिये कि यवन अभी हमारी छाती पर हैं।

नाग०—तो कौन इसके उपयुक्त है?

चाणक्य—आप ही लोग इसे विचारिये।

शक०—हम लोगों का उद्धारकर्त्ता! उत्तरापथ के अनेक समरों का विजेता—वीर चन्द्रगुप्त!

नाग०—चंद्रगुप्त की जय!

चाणक्य—अस्तु, बढ़ो चन्द्रगुप्त! सिंहासन शून्य नहीं रह सकता। अमात्य राक्षस! सम्राट् का अभिषेक कीजिये!

[मृतक हटाये जाते हैं; कल्याणी दूसरी ओर जाती है; राक्षस चन्द्रगुप्त का हाथ पकड़ कर सिंहासन पर बैठाता है]

सब नाग०—सम्राट् चन्द्रगुप्त की जय! मगध की जय!

चाणक्य—मगध के स्वतंत्र नागरिकों को बधाई है! आज आप लोगों के राष्ट्र का नवीन जन्म-दिवस है। स्मरण रखना होगा कि ईश्वर ने सब मनुष्यों को स्वतंत्र उत्पन्न किया है, परन्तु

व्यक्तिगत स्वतंत्रता वहीं तक दी जा सकती है, जहाँ दूसरों की स्वतंत्रता में बाधा न पड़े। यही राष्ट्रीय नियमों का मूल है। वत्स चंद्रगुप्त! स्वेच्छाचारी शासन का परिणाम तुमने स्वयं देख लिया है; अब मंत्रि-परिषद् की सम्मति से मगध और आर्यावर्त के कल्याण में लगो।

['सम्राट् चन्द्रगुप्त की जय' का घोष]

[पटाक्षेप]

चतुर्थ अङ्क

१

मगध में राजकीय उपवन—कल्याणी

कल्याणी—मेरे जीवन के दो स्वप्न थे—दुर्दिन के बाद आकाश के नक्षत्र-विलास-सी चंद्रगुप्त की छवि, और पर्वतेश्वर से प्रतिशोध, किन्तु मगध की राजकुमारी आज अपने ही उपवन में बंदिनी है! मैं वही तो हूँ—जिसके संकेत पर मगध का साम्राज्य चल सकता था! वही शरीर है, वही रूप है, वही हृदय है, पर छिन गया अधिकार और मनुष्य का मान-दंड ऐश्वर्य्य। अब तुलना में सब से छोटी हूँ। जीवन, लज्जा की रंगभूमि बन रहा है! (सिर झुका लेती है) तो जब नन्दवंश का कोई न रहा, तब एक राजकुमारी बच कर क्या करेगी?

[मद्यप की-सी चेष्टा करते हुए पर्वतेश्वर को प्रवेश करते देख चुप हो जाती है]

पर्व०—मगध मेरा है—आधा भाग मेरा है! और मुझसे कुछ पूछा तक न गया! चन्द्रगुप्त अकेले सम्राट् बन बैठा! कभी नहीं, यह मेरे जीते जी नहीं हो सकता।—(सामने देख कर) कौन है? यह कोई अप्सरा होगी! अरे! कोई अपदेवता न हो!

[प्रस्थान

कल्याणी—मगध के राजमंदिर उसी तरह खड़े हैं; गंगा शोण

से उसी स्नेह से मिल रही है; नगर का कोलाहल पूर्ववत् है। परन्तु न रहेगा एक नंद-वंश! फिर क्या करूँ? आत्महत्या करूँ? नहीं, जीवन इतना सस्ता नहीं! अहा, देखो—वह मधुर आलोकवाला चन्द्र! उसी प्रकार नित्य—जैसे एकटक इस पृथ्वी को देख रहा हो! कुमुदबंधु!

[गाती है—]

सुधा-सीकर से नहला दो!
लहरें डूब रही हों रस में,
रह न जायँ वे अपने वस में,
रूप-राशि इस व्यथित हृदय-सागर को—
बहला दो!
अंधकार उजला हो जाये,
हँसी हंसमाला मँडराये,
मधुराका आगमन कलरवों के मिस—
कहला दो!
करुणा के अंचल पर निखरे
घायल आँसू हैं जो बिखरे,
ये मोती बन जायँ, मृदुल कर से लो—
सहला दो!

[पर्वतेश्वर का फिर प्रवेश]

पर्व०—कौन हो तुम सुन्दरी? मैं भ्रमवश चला गया था।

कल्याणी—तुम कौन हो?

पर्व०—पर्वतेश्वर।

कल्याणी—मैं हूँ कल्याणी; जिसे नगर-अवरोध के समय तुमने वन्दी वनाया था!

पर्व०—राजकुमारी! नन्द की दुहिता तुम्हीं हो!

कल्याणी—हाँ पर्वतेश्वर!

पर्व०—तुम्हीं से मेरा व्याह होनेवाला था?

कल्याणी—अब यम से होगा!

पर्व०—नहीं सुन्दरी, ऐसा भरा हुआ यौवन!

कल्याणी—सब छीन कर अपमान भी।

पर्व०—तुम नहीं जानती हो, मगध का आधा राज्य मेरा है। तुम मेरी प्रियतमा होकर सुखी रह सकोगी।

कल्याणी—मैं अब सुख नहीं चाहती। सुख अच्छा है या दुःख—मैं स्थिर न कर सकी। तुम मुझे कष्ट न दो।

पर्व०—हमारे-तुम्हारे मिल जाने से मगध का पूरा राज्य हम लोगों का हो जायगा। उत्तरापथ की संकट-मयी परिस्थिति से अलग रह कर यहीं शांति मिलेगी।

कल्याणी—चुप रहो।

पर्व०—सुन्दरी, तुम्हें देख लेने पर ऐसा नहीं हो सकता!

[उसे पकड़ना चाहता है, वह भागती है, परन्तु पर्वतेश्वर उसे पकड़ ही लेता है। कल्याणी उसी का छुरा निकाल कर उसका वध करती है, चीत्कार सुन कर चन्द्रगुप्त आ जाता है।]

चन्द्रगुप्त—कल्याणी! कल्याणी! यह क्या!!

कल्याणी—वही, जो होना था। चन्द्रगुप्त! यह पशु मेरा अपमान करना चाहता था—मुझे भ्रष्ट करके, अपनी संगिनी बना कर पूरे मगध पर अधिकार करना चाहता था। परन्तु मौर्य! कल्याणी ने वरण किया था केवल एक पुरुष को—वह था चन्द्रगुप्त।

चन्द्रगुप्त—क्या यह सच है, कल्याणी!

कल्याणी—हाँ, यह सच है। परन्तु तुम मेरे पिता के विरोधी हुए, इसलिए उस प्रणय को—प्रेम-पीड़ा को—मैं पैरों से कुचल कर, दबा कर, खड़ी रही! अब मेरे लिये कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहा, पिता! लो मैं भी जाती हूँ!

[अचानक छुरी मार कर आत्महत्या करती है। चंद्रगुप्त उसे गोद में उठा लेता है।]

चाणक्य—(प्रवेश करके) चंद्रगुप्त! आज तुम निष्कण्टक हुए!

चंद्र०—गुरुदेव! इतनी क्रूरता!

चाणक्य—महत्त्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में रहता है! चलो अपना काम करो, विवाद करना तुम्हारा काम नहीं। अब तुम स्वच्छंद होकर दक्षिणापथ जाने की आयोजना करो (प्रस्थान)।

[चन्द्रगुप्त कल्याणी को लिटा देता है]

पथ में राक्षस और सुवासिनी

सुवा०—राक्षस ! मुझे क्षमा करो !

राक्षस—क्यों सुवासिनी, यदि वह बाधा एक क्षण और रुकी रहती तो क्या हम लोग इस सामाजिक नियम के बंधन से बँध न गये होते ! अब क्या हो गया ?

सुवा०—अब पिताजी की अनुमति आवश्यक हो गई है।

राक्षस—(व्यंग से)—क्यों ? क्या अब वह तुम्हारे ऊपर अधिक नियंत्रण रखते हैं ? क्या उनका तुम्हारे विगत जीवन से कुछ सम्पर्क नहीं ? क्या......

सुवासिनी—अमात्य ! मैं अनाथ थी; जीविका के लिये मैंने चाहे कुछ भी किया हो; पर, स्त्रीत्व नहीं बेचा।

राक्षस—सुवासिनी, मैंने सोचा था, तुम्हारे अंक में सिर रख कर विश्राम करते हुए मगध की भलाई से विपथगामी न हूँगा। पर तुमने ठोकर मार दिया ! क्या तुम नहीं जानतीं कि मेरे भीतर एक दुष्ट प्रतिभा सदैव सचेष्ट रहती है ? अवसर न दो, उसे न जगाओ ! मुझे पाप से बचाओ !

सुवा०—मैं तुम्हारा प्रणय अस्वीकार नहीं करती। किन्तु अब उसका प्रस्ताव पिता जी से करो। तुम मेरे रूप और गुण के [illegible] हो और सच्चे ग्राहक हो; परन्तु राक्षस ! मैं जानती हूँ कि ब्याह छोड़ कर अन्य किसी भी प्रकार से मैं तुम्हारी हो

जाती तो तुम ब्याह से अधिक सुखी होते। उधर पिता ने—जिनके लिये मेरा चारित्र्य, मेरी निष्कलंकता नितांत वांछनीय हो सकती है—मुझे इस मलिनता के कीचड़ से कमल के समान हाथों में ले लिया है! मेरे चिरदुखी पिता! राक्षस, तुम वासना से उत्तेजित हो, तुम नहीं देख रहे हो कि सामने एक जुड़ता हुआ घायल हृदय-विछुड़ जायगा, एक पवित्र कल्पना सहज ही नष्ट हो जायगी!

राक्षस—यह मैं मान लेता, कदाचित् इस पर पूर्ण विश्वास भी कर लेता; परन्तु सुवासिनी, मुझे शंका है। चाणक्य का तुम्हारा बाल्य-परिचय है। तुम शक्तिशाली की उपासना······

सुवा०—ठहरो अमात्य! मैं चाणक्य को इधर तो एक प्रकार से विस्मृत ही हो गई थी, तुम इस सोई हुई भ्रांति को न जगाओ।

[प्रस्थान]

राक्षस—चाणक्य भूल सकता है? कभी नहीं। वह राजनीति का आचार्य्य हो जाय, वह विरक्त तपस्वी हो जाय; परन्तु सुवासिनी का चित्र यदि अंकित हो गया है तो—उहूँ—(सोचता है)

[नेपथ्य से गान]

कैसी कड़ी रूप की ज्वाला!
पड़ता है पतंग-सा इसमें मन होकर मतवाला।
सन्ध्या-गगन-सी रागमयी यह बड़ी तीव्र है हाला,
लौह-शृंखला से न कड़ी क्या यह फूलों की माला?

राक्षस—(चैतन्य होकर) तो चाणक्य से फिर मेरी टक्कर

मौर्य्य-पत्नी—तो मैं ऐसी पराधीनता में नहीं रहना चाहती (मौर्य्य से)—समझा न! हम लोग आज भी बंदी हैं!

मौर्य्य—(क्रोध से)—क्या कहा, बंदी? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता! हम लोग चलते हैं। देखूँ किसकी सामर्थ्य है जो रोके! अपमान से जीवित रहना मौर्य्य नहीं जानता है! चलो—

[दोनों का प्रस्थान]

[चाणक्य और कात्यायन को छोड़कर सब जाते हैं]

कात्या०—विष्णुगुप्त, तुमने समझकर ही तो ऐसा किया होगा। फिर भी मौर्य्य का इस तरह चले जाना चंद्रगुप्त को···

चाणक्य—बुरा लगेगा! क्यों? भला लगने के लिये मैं कोई काम नहीं करता कात्यायन! परिणाम में भलाई ही मेरे कामों की कसौटी है। तुम्हारी इच्छा हो तो तुम भी चले जाओ! बको मत!

[कात्यायन का प्रस्थान]

चाणक्य—कारण समझ में नहीं आता—यह वात्याचक्र क्यों?—(विचारता हुआ)—क्या कोई नवीन अध्याय खुलने वाला है? अपनी विजयों पर मुझे विश्वास है, फिर यह क्या? (सोचता है)

[सुवासिनी का प्रवेश)

सुवा०—विष्णुगुप्त!

चाणक्य—कहो सुवासिनी!

सुवा०—अभी परिषद्-गृह से जाते हुए पिताजी बहुत दुखी दिखाई दिये, तुमने अपमान किया क्या?

चाणक्य—यह तुमसे किसने कहा ? इस उत्सव को रोक देने से साम्राज्य का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। मौर्य्यों का जो कुछ है, वह मेरे दायित्त्व पर है। अपमान हो या मान, मैं उसका उत्तरदायी हूँ। और; पितृव्य-तुल्य शकटार को मैं अपमानित करूँगा, यह तुम्हें कैसे विश्वास हुआ ?

सुवा०—तो राक्षस ने ऐसा क्यों.....?

चाणक्य—कहा ? एँ ? सो तो कहना ही चाहिये ! और तुम्हारा भी उस पर विश्वास होना आवश्यक है; क्यों न सुवासिनी ?

सुवा०—विष्णुगुप्त ! मैं एक समस्या में डाल दी गई हूँ।

चाणक्य—तुम स्वयं पड़ना चाहती हो, कदाचित् यह ठीक भी है।

सुवा०—व्यंग्य न करो; तुम्हारी कृपा मुझ पर होगी ही, मुझे इसका विश्वास है।

चाणक्य—मैं तुमसे बाल्य-काल से परिचित हूँ, सुवासिनी ! तुम खेल में भी हारने के समय रोते हुए हँस दिया करतीं और तब मैं हार स्वीकार कर लेता। इधर तो तुम्हारा अभिनय का अभ्यास भी बढ़ गया है ! तब तो···(देखने लगता है)

सुवा०—यह क्या विष्णुगुप्त, तुम संसार को अपने वश में करने का संकल्प रखते हो। फिर अपने को नहीं ? देखो दर्पण लेकर—तुम्हारी आँखों में तुम्हारा यह कौन-सा नवीन चित्र है !

[प्रस्थान]

चाणक्य—क्या ? मेरी दुर्बलता ? नहीं ! कौन है ?

दौवारिक—(प्रवेश कर के)—जय हो आर्य्य, रथ पर मालविका आई हैं।

चाणक्य—उसे सीधे मेरे पास लिवा लाओ !

[दौवारिक का प्रस्थान—एक चर का प्रवेश]

चर—आर्य्य, सम्राट् के पिता और माता दोनों व्यक्ति रथ पर अभी बाहर गये हैं। (जाता है)

चाणक्य—जाने दो ! इनके रहने से चन्द्रगुप्त के एकाधिपत्य में बाधा होती। स्नेहातिरेक से वह कुछ का कुछ कर बैठता।

[दूसरे चर का प्रवेश]

दूसरा—(प्रणाम कर के)—जय हो आर्य्य, बाल्हीक में नई हलचल है। विजेता सिल्यूकस अपनी पश्चिमी राजनीति से स्वतन्त्र हो गया है, अब वह सिकन्दर के पूर्वी प्रान्तों की ओर दत्तचित्त है। बाल्हीक की सीमा पर नवीन यवन-सेना के शस्त्र चमकने लगे हैं।

चाणक्य—(चौंककर) - और गांधार का समाचार ?

दूसरा—अभी कोई नवीनता नहीं है।

चाणक्य—जाओ।—(चर का प्रस्थान)—क्या उसका भी समय आ गया ? तो ठीक है। ब्राह्मण ! अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रह ! कुछ चिन्ता नहीं, सब सुयोग आप ही चले आ रहे हैं।

[ऊपर देख कर हँसता है, मालविका का प्रवेश]

माल०—आर्य्य, प्रणाम करती हूँ। सम्राट् ने श्रीचरणों में

सविनय प्रणाम करके निवेदन किया है कि आपके आशीर्वाद से दक्षिणापथ में अपूर्व सफलता मिली, किन्तु सुदूर दक्षिण जाने के लिये आपका निषेध सुन कर लौटा आ रहा हूँ। सीमान्त के राष्ट्रों ने भी मित्रता स्वीकार कर ली है।

चाणक्य—मालविका, विश्राम करो। सब बातों का विवरण एक साथ ही लूँगा।

माल०—परन्तु आर्य्य, स्वागत का कोई उत्साह राजधानी में नहीं।

चाणक्य—मालविका, पाटलीपुत्र षड्यन्त्रों का केन्द्र हो रहा है! सावधान! चन्द्रगुप्त के प्राणों की रक्षा तुम्हीं को करनी होगी।

४

[प्रकोष्ठ में चन्द्रगुप्त का प्रवेश]

चन्द्रगुप्त—विजयों की सीमा है, परन्तु अभिलाषाओं की नहीं। मन ऊब-सा गया है। झंझटों से घड़ी भर अवकाश नहीं। गुरुदेव और क्या चाहते हैं, समझ में नहीं आता। इतनी उदासी क्यों? मालविका!

माल०—(प्रवेश करके)—सम्राट् की जय हो!

चन्द्र०—मैं सब से विभिन्न, एक भय-प्रदर्शन-सा बन गया हूँ। कोई मेरा अन्तरंग नहीं, तुम भी मुझे सम्राट् कह कर पुकारती हो!

माल०—देव, फिर मैं क्या कहूँ?

चन्द्र०—स्मरण आता है—मालव का उपवन और उसमें अतिथि के रूप में मेरा रहना!

माल०—सम्राट्, अभी कितने ही भयानक संघर्ष सामने हैं!

चन्द्र०—संघर्ष! युद्ध देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़ कर देखो मालविका! आशा और निराशा का युद्ध; भावों का अभाव से द्वंद्व! कोई कमी नहीं, फिर भी न जाने कौन मेरी संपूर्ण सूची में रिक्त-चिह्न लगा देता है। मालविका, तुम मेरी ताम्बूल-वाहिनी नहीं हो; मेरे विश्वास की, मित्रता की प्रतिकृति हो। देखो, मैं दरिद्र हूँ कि नहीं, तुमसे मेरा कोई रहस्य गोपनीय नहीं! मेरे हृदय में कुछ है कि नहीं, टटोलने से भी नहीं, जान पड़ता?

माल०—आप महापुरुष हैं; साधारण जन-सुलभ दुर्बलता न

होनी चाहिये आप में। देव! बहुत दिनों पर मैंने एक माला बनाई है—(माला पहनाती है)

चन्द्र०—मालविका, इन फूलों के रस तो भौंरे ले चुके हैं!

माल०—निरीह कुसुमों पर दोषारोपण क्यों? उनका काम है सौरभ बिखेरना, यह उनका मुक्त दान है। उसे चाहे भ्रमर ले या पवन।

चन्द्र०—कुछ गाओ तो मन बहल जाय।

[मालविका गाती है—]

मधुप कब एक कली का है!
पाया जिसमें प्रेम रस सौरभ और सुहाग,
बेसुध हो उस कली से मिलता भर अनुराग;
विहारी कुञ्जगली का है!
कुसुम धूल से धूसरित चलता है उस राह,
काँटों में उलझा तदपि रही लगन की चाह;
बावला रंगरली का है।
हो मल्लिका, सरोजिनी या यूथी का पुञ्ज,
अलि को केवल चाहिये सुखमय क्रीड़ा-कुंज;
मधुप कब एक कली का है!

चन्द्र०—मालविका, मन मधुप से भी चंचल और पवन से भी प्रगतिशील है, वेगवान है।

माल०—उसका निग्रह करना ही महापुरुषों का स्वभाव है देव!

[प्रतिहारी का प्रवेश और संकेत मालविका उससे बात करके लौटती है]

चन्द्र०—क्या है ?

माल०—कुछ नहीं, कहती थी कि यह प्राचीन राजमन्दिर अभी परिष्कृत नहीं। इसलिये मैंने चन्द्रसौध में आप के शयन का प्रबन्ध करने के लिए कह दिया है।

चन्द्र०—जैसी तुम्हारी इच्छा—(पान करता हुआ)—कुछ और गाओ मालविका ! आज तुम्हारे स्वर में स्वर्गीय मधुरिमा है।

[मालविका गाती है]

बज रही बंशी आठों याम की।
अब तक गूँज रही है बोली प्यारे मुख अभिराम की।
हुए चपल मृगनैन मोह-वश बजी विपंची काम की,
रूप-सुधा के दो दृग प्यालों ने ही मति बेकाम की !
बज रही बंशी०—

[कंचुकी का प्रवेश]

कंचुकी—जय हो देव, शयन का समय हो गया।

[प्रतिहारी और कंचुकी के साथ चन्द्रगुप्त का प्रस्थान]

माल०—जाओ प्रियतम ! सुखी जीवन बिताने के लिये; और मैं रहती हूं चिर-दुखी जीवन का अंत करने के लिये। जीवन एक प्रश्न है, और मरण है उसका अटल उत्तर। आर्य्य चाणक्य की आज्ञा है—"आज घातक इस शयन-गृह में आवेंगे, इसलिये चन्द्रगुप्त यहां न सोने पावे, और षड्यंत्रकारी पकड़े जायँ।" (शय्या पर बैठ कर)—यह चन्द्रगुप्त की शय्या है। ओह,

आज प्राणों में कितनी मादकता है ! मैं......कहाँ हूँ ? कहाँ ? स्मृति, तू मेरी तरह सो जा ! अनुराग, तू रक्त से भी रंगीन बन जा !

[गाती है—]

ओ मेरी जीवन की स्मृति ! ओ अन्तर के आतुर अनुराग !
बैठ गुलाबी विजन उषा में गाते कौन मनोहर राग ?
चेतन सागर उर्मिल होता यह कैसी कम्पनमय तान,
यों अधीरता से न मीड़ लो अभी हुए हैं पुलकित प्रान।
कैसा है यह प्रेम तुम्हारा युगल मूर्ति की बलिहारी
यह उन्मत्त विलास बता दो कुचलेगा किसी की क्यारी ?
इस अनन्तता निधि के नाविक, हे मेरे अनंग अनुराग !
पाल सुनहला बन, तनती है स्मृति, यों उस अतीत में जाग।
कहाँ ले चले कोलाहल से मुखरित तट !को छोड़ सुदूर,
आह ! तुम्हारे निर्दय डाँड़ों से होती लहरें चूर।
देख नहीं सकते तुम दोनों चकित निराशा है भीमा,
बहको मत क्या न है बता दो क्षितिज तुम्हारी नव सीमा ?

५

प्रभात—राजमन्दिर का एक प्रांत

[चन्द्रगुप्त—(अकेले टहलता हुआ)—चतुर सेवक के समान संसार को जगा कर अन्धकार हट गया। रजनी की निस्तब्धता काकली से चंचल हो उठी है। नीला आकाश स्वच्छ होने लगा है; या निद्राक्लांत निशा उषा की शुभ्र चादर ओढ़ कर नींद की गोद में लेटने चली है। यह जागरण का अवसर है। जागरण का अर्थ है कर्म्मक्षेत्र में अवतीर्ण होना। और कर्म्मक्षेत्र क्या है? जीवन-संग्राम! किन्तु भीषण संघर्ष करके भी मैं कुछ नहीं हूँ। मेरी सत्ता एक कठपुतली-सी है] तो फिर···मेरे पिता मेरी माता, इनका तो सम्मान आवश्यक था। वे चले गये, मैं देखता हूँ कि नागरिक तो क्या, मेरे आत्मीय भी आनन्द मनाने से वंचित किये गये। यह परतंत्रता कब तक चलेगी? प्रतिहारी!

प्रतिहारी—(प्रवेश करके)—जय हो देव!

चन्द्र०—आर्य्य चाणक्य को शीघ्र लिवा लाओ!

[प्रतिहारी का प्रस्थान]

चन्द्र०—(टहलते हुए)—प्रतिकार आवश्यक है।

[चाणक्य का प्रवेश]

चन्द्र०—आर्य्य, प्रणाम!

चाणक्य—कल्याण हो आयुष्मान्, आज तुम्हारा प्रणाम भारी-सा है!

चन्द्र०—मैं कुछ पूछना चाहता हूँ।

चाणक्य—यह तो मैं पहले ही से समझता था! तो तुम अपने स्वागत के लिये लड़कों के सदृश रूठे हो?

चन्द्र०—नहीं आर्य्य, मेरे माता-पिता—मैं जानना चाहता हूँ कि उन्हें किसने निर्वासित किया?

चाणक्य—जान जाओगे तो उसका बध करोगे! क्यों?

[हँसता है]

चन्द्र०—हँसिये मत! गुरुदेव! आपकी मर्य्यादा रखनी चाहिये, यह मैं जानता हूँ। परन्तु वे मेरे माता-पिता थे, यह आप को भी जानना चाहिये।

चाणक्य—तभी तो मैंने उन्हें उपयुक्त अवसर दिया। अब उन्हें आवश्यकता थी शांति की, उन्होंने वानप्रस्थाश्रम ग्रहण किया है। इसमें खेद करने की कौन बात है?

चन्द्र०—यह अक्षुण्ण अधिकार आप कैसे भोग रहे हैं? केवल साम्राज्य का ही नहीं, देखता हूँ, आप मेरे कुटुम्ब का भी नियंत्रण अपने हाथों में रखना चाहते हैं।

चाणक्य—चन्द्रगुप्त! मैं ब्राह्मण हूँ! मेरा साम्राज्य करुणा का था, मेरा धर्म प्रेम का था। आनन्द-समुद्र में शांति-द्वीप का अधिवासी ब्राह्मण मैं, चन्द्र, सूर्य्य, नक्षत्र मेरे दीप थे, अनन्त आकाश वितान था, शस्यश्यामला कोमला विश्वम्भरा मेरी शय्या थी। बौद्धिक विनोद कर्म्म था, संतोष धन था। उस अपनी, ब्राह्मण की, जन्मभूमि को छोड़ कर कहाँ आ

गया ! सौहार्द्र के स्थान पर कुचक्र; फूलों के प्रतिनिधि काँटे; प्रेम के स्थान में भय । ज्ञानामृत के परिवर्तन में कुमंत्रणा। पतन ! और कहाँ तक हो सकता है ! ले लो मौर्य्य चन्द्रगुप्त ! अपना अधिकार, छीन लो । यह मेरा पुनर्जन्म होगा। मेरा जीवन राजनीतिक कुचक्रों से कुत्सित और कलंकित हो उठा है । किसी छायाचित्र; किसी काल्पनिक महत्त्व के पीछे, भ्रमपूर्ण अनुसंधान करता दौड़ रहा हूँ ! शांति खो गई, स्वरूप विस्मृत हो गया ! जान गया मैं कहाँ और कितने नीचे हूँ ! [प्रस्थान]

चन्द्र०—जाने दो ! (दीर्घ निःश्वास लेकर)—तो क्या मैं असमर्थ हूँ ? ऊँह, सब हो जायगा !

सिंहरण—(प्रवेश करके) सम्राट् की जय हो ! कुछ विद्रोही और षड्यंत्रकारी पकड़े गए हैं । एक बड़ी दुर्घटना भी हो गई है !

चन्द्रगुप्त—(चौंक कर) क्या ?

सिंह०—मालविका की हत्या...(गद्गद कण्ठ से)—आपका परिच्छद पहन कर वह आप ही की शय्या पर लेटी थी ।

चन्द्रगुप्त—तो क्या, उसने इसीलिये मेरे शयन का प्रबन्ध दूसरे प्रकोष्ठ में किया ! आह ! मालविका !

सिंह०—आर्य्य चाणक्य की सूचना पाकर नायक एक गुल्म के साथ राजमंदिर की रक्षा के लिये प्रस्तुत था । एक छोटा-सा युद्ध होकर वे हत्यारे पकड़े गये । परन्तु उनका नेता राक्षस निकल भागा !

चन्द्र०—क्या ? राक्षस उनका नेता था !

सिंह०—हाँ सम्राट् ! गुरुदेव बुलाये जायँ ?

चन्द्र०—वही तो नहीं हो सकता, वे चले गये ! कदाचित् न लौटेंगे।

सिंह०—ऐसा क्यों ? क्या आपने कुछ कह दिया ?

चन्द्रगुप्त—हाँ सिंहरण ! मैंने अपने माता-पिता के चले जाने का कारण पूछा था।

सिंह०—(निःश्वास लेकर) तो नियति कुछ अदृष्ट का सृजन कर रही है ! सम्राट, मैं गुरुदेव को खोजने जाता हूँ।

चन्द्रगुप्त—(विरक्ति से) जाओ; ठीक है—अधिक हर्ष, अधिक उन्नति के बाद ही तो अधिक दुःख और पतन की बारी आती है !

[सिंहरण का प्रस्थान]

चन्द्र०—पिता गये, माता गई, गुरुदेव गये, कंधे से कंधा भिड़ाकर प्राण देनेवाला चिर-सहचर सिंहरण गया ! तो भी चन्द्रगुप्त को रहना पड़ेगा, और रहेगा ! परन्तु मालविका ! आह, वह स्वर्गीय कुसुम !

[चिंतित भाव से प्रस्थान

भारतवर्ष के बाहर किया गया—यह तुम भूल गये ? अभी है कितने दिनों की बात। अब इस सिल्यूकस को क्या हुआ जो चला आया ! तुम नहीं जानते कात्यायन, इसी सिल्यूकस ने चन्द्रगुप्त की रक्षा की थी ! नियति अब उन्हीं दोनों को एक दूसरे के विपक्ष में खड्ग खींचे हुए खड़ा कर रही है !

कात्या०—कैसे आश्चर्य की बात है !

चाणक्य—परन्तु इससे क्या ! वह तो होकर रहेगा, जिसे मैंने स्थिर कर लिया है ! वर्तमान भारत की नियति मेरे हृदय पर जलद-पटल में विजली के समान नाच उठती है ! फिर मैं क्या करूँ ?

कात्या०—तुम निष्ठुर हो !

चाणक्य—अच्छा, तुम सदय होकर एक बात कर सकोगे ? बोलो ! तुम चन्द्रगुप्त और उस यवन-बाला के परिणय में आचार्य्य बनोगे ?

कात्या०—क्या कह रहे हो ? यह हँसी !

चाणक्य—यही है तुम्हारी दया की परीक्षा—देखूँ तुम क्या करते हो ! क्या इसमें यवन-बाला का अमंगल है ?

कात्या०—(सोचकर) मंगल है; मैं प्रस्तुत हूँ।

चाणक्य—(हँस कर) तब तुम निश्चय ही एक सहृदय व्यक्ति हो !

कात्या०—अच्छा तो मैं जाता हूँ।

चाणक्य—हाँ जाओ। स्मरण रखना, हम लोगों के जीवन

में यह अन्तिम संघर्ष है! मुझे आज आम्भीक से मिलना है। यह लोलुप राजा, देखूँ, क्या करता है!

[कात्यायन का प्रस्थान—चर का प्रवेश]

चर—महामात्य की जय हो!

चाणक्य—इस समय जय की बड़ी आवश्यकता है। आम्भीक को यदि जय कर सका, तो सर्वत्र जय है! बोलो, आम्भीक ने क्या कहा?

चर—वे स्वयं आ रहे हैं।

चाणक्य—आने दो, तुम जाओ।

[चर का प्रस्थान—आम्भीक का प्रवेश]

आम्भीक—प्रणाम, ब्राह्मण देव!

चाणक्य—कल्याण हो। राजन्, तुम्हें भय तो नहीं लगता? मैं एक दुर्नाम मनुष्य हूँ!

आम्भीक—नहीं आर्य्य, आप कैसी बात कहते हैं!

चाणक्य—तो ठीक है। स्मरण है, इसी तक्षशिला के मठ में एक दिन मैंने कहा था—'सो कैसे होगा अविश्वासी क्षत्रिय! तभी तो म्लेच्छ लोग साम्राज्य बना रहे हैं और आर्य्यजाति पतन के कगारे पर खड़ी एक धक्के की राह देख रही है!'

आम्भीक—स्मरण है।

चाणक्य—तुम्हारी भूल ने कितना कुत्सित दृश्य दिखाया—इसे भी सम्भवतः तुम न भूले होगे।

आम्भीक—नहीं।

चाणक्य—तुम जानते हो कि चन्द्रगुप्त ने दक्षिणापथ के स्वर्णगिरि से पञ्चनद तक, सौराष्ट्र से बंग तक, एक महान् साम्राज्य स्थापित किया है। यह साम्राज्य मगध का नहीं है, यह आर्य्य-साम्राज्य है। उत्तरापथ के सब प्रमुख गणतंत्र मालव, क्षुद्रक और यौधेय आदि सिंहरण के नेतृत्व में इस साम्राज्य के अंग हैं। केवल तुम्हीं इससे अलग हो! इस द्वितीय यवन-आक्रमण से तुम भारत के द्वार की रक्षा कर लोगे, या पहले ही के समान उत्कोच लेकर, द्वार खोलकर, सब झंझटों से अलग हो जाना चाहते हो?

आम्भीक—आर्य्य, वही त्रुटि बार-बार न होगी!

चाणक्य—तब साम्राज्य झेलम-तट की रक्षा करेगा। सिन्धु-तट का भार तुम्हारे ऊपर रहा!

आम्भीक—अकेले मैं यवनों का आक्रमण रोकने में असमर्थ हूँ!

चाणक्य—फिर उपाय क्या है?

[नेपथ्य से जयघोष। आम्भीक चकित होकर देखने लगता है।]

चाणक्य—क्या है, सुन रहे हो?

आम्भीक—समझ में नहीं आया। (नेपथ्य की ओर देखकर) वह एक स्त्री आगे-आगे कुछ गाती हुई आ रही है और उसके साथ बड़ी-सी भीड़—(कोलाहल समीप होता है।)

चाणक्य—आओ, हम लोग अलग हट कर देखें। (दोनों अलग छिप जाते हैं)

[आर्य्य-पताका लिये अलका का गाते हुए, भीड़ के साथ प्रवेश]

अलका—तक्षशिला के वीर नागरिको! एक बार, अभी-अभी सम्राट् चंद्रगुप्त ने इसका उद्धार किया था, आर्य्यावर्त्त—प्यारा देश—ग्रीकों की विजय-लालसा से पुनः पद-दलित होने जा रहा है; तब तुम्हारा शासक तटस्थ रहने का ढोंग करके पुण्य भूमि को परतंत्रता की शृंखला पहनाने का दृश्य राजमहल के झरोखों से देखेगा। तुम्हारा राजा कायर है और तुम?

नागरिक—हम लोग उसका परिणाम देख चुके हैं माँ! हम लोग प्रस्तुत हैं।

अलका—यही तो—(समवेत स्वर से गायन)

हिमाद्रि तुंग शृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती—

"अमर्त्य वीरपुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है—बढ़े चलो बढ़े चलो।"

असंख्य कीर्तिरश्मियाँ,
विकीर्ण दिव्यदाह-सी।
सपूत मातृभूमि के—
रुको न शूर साहसी!

अराति सैन्य सिंधु में—सुवाडवाग्नि से जलो,
प्रवीर हो जयी बनो—बढ़े चलो बढ़े चलो।

[सब का प्रस्थान]

आम्भीक—यह अलका है! तक्षशिला में उत्तेजना फैलाती हुई—यह अलका !

चाणक्य—हाँ, आम्भीक! तुम उसे वन्दी बनाओ; मुँह बन्द करो!

आम्भीक—(कुछ सोच कर) असम्भव! मैं भी साम्राज्य में सम्मिलित होऊँगा।

चाणक्य—यह मैं कैसे कहूँ? मेरी लक्ष्मी—अलका—ने आर्य्यगौरव के लिये क्या-क्या कष्ट नहीं उठाये! वह भी तो इसी वंश की वालिका है! फिर तुम तो पुरुष हो, तुम्हीं सोच देखो।

आम्भीक—व्यर्थ का अभिमान अब मुझे देश के कल्याण में वाधक न सिद्ध कर सकेगा। आर्य्य चाणक्य, मैं आर्य्य-साम्राज्य के बाहर नहीं हूँ!

चाणक्य—तब तक्षशिला-दुर्ग पर मागध-सेना अधिकार करेगी! यह तुम सहन करोगे?

[आम्भीक सिर नीचा करके विचारता]

चाणक्य—क्षत्रिय! कह देना और बात है, करना और।

आम्भीक—(आवेश में)—हार चुका ही हूँ; पराधीन हो ही चुका हूँ। अब स्वदेश के अधीन होने में उससे अधिक कलंक तो मुझे लगेगा नहीं, आर्य्य चाणक्य।

चाणक्य—तो इस गांधार और पंचनद का शासन-सूत्र होगा अलका के हाथ में और तक्षशिला होगी उसकी राजधानी; वोलो, स्वीकार है?

आम्भीक—अलका ?

चाणक्य—हाँ, अलका और सिंहरण इस महाप्रदेश के शासक होंगे।

आम्भीक—सब स्वीकार है, ब्राह्मण! मैं केवल एक बार यवनों के सम्मुख अपना कलंक धोने का अवसर चाहता हूँ। रण-क्षेत्र में एक सैनिक होना चाहता हूँ! और कुछ नहीं।

चाणक्य—तुम्हारा अभीष्ट पूर्ण हो!

[संकेत करता है—सिंहरण और अलका का प्रवेश]

अलका—भाई! आम्भीक!

आम्भीक—बहन! अलका! तू छोटी है, पर मेरी श्रद्धा का आधार है। मैं भूल करता था बहन! तक्षशिला के लिए अलका पर्य्याप्त है; आम्भीक की आवश्यकता न थी!

अलका—भाई, क्या कहते हो!

आम्भीक—मैं देश-द्रोही हूँ! नीच हूँ! अधम हूँ! तूने गांधार के राजवंश का मुख उज्ज्वल किया है! राज्यासन के योग्य तू ही है।

अलका—भाई! अब भी तुम्हारा भ्रम नहीं गया! राज्य किसी का नहीं है; सुशासन का है! जन्मभूमि के भक्तों में आज जागरण है। देखते नहीं, प्राच्य में सूर्य्योदय हुआ है! स्वयं सम्राट् चन्द्रगुप्त तक इस महान् आर्य्य-साम्राज्य के सेवक हैं। स्वतंत्रता के युद्ध में सैनिक और सेनापति का भेद नहीं। जिसकी खड्ग-प्रभा में विजय का आलोक चमकेगा, वही वरेण्य है।

उसी की पूजा होगी। भाई! तक्षशिला मेरी नहीं और तुम्हारी भी नहीं; तक्षशिला आर्य्यावर्त्त का एक भूभाग है; वह आर्य्यावर्त्त की होकर ही रहे, इसके लिए मर मिटो! फिर उसके कणों में तुम्हारा ही नाम अंकित होगा। मेरे पिता स्वर्ग में इन्द्र से प्रतिस्पर्धा करेंगे। वहाँ की अप्सरायें विजयमाला लेकर खड़ी होंगी, सूर्य्यमण्डल मार्ग बनेगा और उज्ज्वल आलोक से मण्डित होकर गांधार का राजकुल अमर हो जायगा!

चाणक्य—साधु! अलके, साधु!

आम्भीक—(खड्ग खींचकर)—खड्ग की शपथ—मैं कर्त्तव्य से च्युत न होऊँगा!

सिंह०—(उसे आलिंगन करके)—मित्र आम्भीक! मनुष्य साधारण-धर्मा पशु है, विचारशील होने से मनुष्य होता है और निःस्वार्थ कर्म करने से वही देवता भी हो सकता है।

[आम्भीक का प्रस्थान]

सिंह०—अलका, सम्राट् किस मानसिक वेदना में दिन विताते होंगे!

अलका—वे वीर हैं मालव, उन्हें विश्वास है कि मेरा कुछ कार्य्य है, उसकी साधना के लिये प्रकृति, अदृष्ट, दैव या ईश्वर, कुछ न कुछ अवलम्ब जुटा ही देगा! सहायक चाहे आर्य्य चाणक्य हों या मालव!

सिंह०—अलका, उस प्रचंड पराक्रम को मैं जानता हूँ। परन्तु मैं यह भी जानता हूँ कि सम्राट मनुष्य हैं। अपने से बार-

चार सहायता करने के लिये कहने में; मानव-स्वभाव विद्रोह करने लगता है। यह सौहार्द्र और विश्वास का सुन्दर अभिमान है। उस समय मन चाहे अभिनय करता हो संघर्ष से बचने का, किन्तु जीवन अपना संग्राम अंध होकर लड़ता है। कहता है—अपने को बचाऊँगा नहीं, जो मेरे मित्र हों, आवें और अपना प्रमाण दें।

[दोनों का प्रस्थान]

[सुवासिनी का प्रवेश]

चाणक्य—सुवासिनी, तुम यहाँ कैसे ?

सुवा०—सम्राट् को अभी तक आपका पता नहीं, पिताजी ने इसीलिये मुझे भेजा है। उन्होंने कहा —जिस खेल को आरम्भ किया है, उसका पूर्ण और सफल अंत करना चाहिए।

चाणक्य—क्यों करें सुवासिनी ! तुम राक्षस के साथ सुखी जीवन बिताओगी, यदि इतनी भी मुझे आशा होती··········· वह तो यवन-सेनानी है, और तुम मगध की मंत्रि-कन्या ! क्य उससे परिणय कर सकोगी ?

सुवा०—(निःश्वास लेकर)—राक्षस से ! नहीं, असंभव। चाणक्य, तुम इतने निर्दय हो !

चाणक्य—(हँस कर)—सुवासिनी ! वह स्वप्न टूट गया—इस विजन वालुका-सिन्धु में एक सुधा की लहर दौड़ पड़ी थी; किन्तु तुम्हारे एक भ्रूभंग ने उसे लौटा दिया ! मैं कंगाल हूँ

(ठहर कर)—सुवासिनी ! मैं तुम्हें दण्ड दूँगा। चाणक्य की नीति में अपराधों के दण्ड से कोई मुक्त नहीं।

सुवा०—क्षमा करो विष्णुगुप्त !

चाणक्य—असंभव है। तुम्हें राक्षस से ब्याह करना ही होगा, इसी में हमारा, तुम्हारा और मगध का कल्याण है।

सुवा०—निष्ठुर ! निर्दय !!

चाणक्य—(हँस कर)—तुम्हें अभिनय भी करना पड़ेगा। उसमें समस्त सञ्चित कौशल का प्रदर्शन करना होगा। सुवासिनी, तुम्हें वन्दिनी बन कर ग्रीक-शिविर में राक्षस और राजकुमारी के पास पहुँचना होगा—राक्षस को देशभक्त बनाने के लिये और राजकुमारी की पूर्वस्मृति में आहुति देने के लिये। कार्नेलिया चंद्रगुप्त से परिणीता होकर सुखी हो सकेगी कि नहीं, इसकी परीक्षा करनी होगी।

[सुवासिनी सिर पकड़ कर बैठ जाती है]

चाणक्य—(उसके सिर पर हाथ रख कर) सुवासिनी ! तुम्हारा प्रणय, स्त्री और पुरुष के रूप में केवल राक्षस से अंकुरित हुआ, और शैशव का वह सब; केवल हृदय की स्निग्धता थी। आज किसी कारण से राक्षस का प्रणय द्वेष में बदल रहा है; परन्तु काल पाकर वह अंकुर हरा-भरा और सफल हो सकता है ! चाणक्य यह नहीं मानता कि कुछ असम्भव है। तुम राक्षस से प्रेम करके सुखी हो सकती हो, क्रमशः उस प्रेम का सच्चा विकास हो सकता है। और मैं, अभ्यास करके तुमसे उदासीन

हो सकता हूँ, यही मेरे लिए अच्छा होगा। मानव हृदय में यह भाव-सृष्टि तो हुआ ही करती है। यही हृदय का रहस्य है तब, हम लोग जिस सृष्टि में स्वतंत्र हों, उसमें परवशता क्यों मानें? मैं क्रूर हूँ, केवल वर्तमान के लिए; भविष्य के सुख और शांति के लिये, परिणाम के लिये नहीं। श्रेय के लिये, मनुष्य को सब त्याग करना चाहिए; सुवासिनी! जाओ!

सुवा०—(दीनता से चाणक्य का मुँह देखती है)—तो विष्णुगुप्त, तुम इतना बड़ा त्याग करोगे! अपने हाथों बनाया हुआ, इतने बड़े साम्राज्य का शासन, हृदय की आकांक्षा के साथ अपने प्रतिद्वन्द्वी को सौंप दोगे! और सो भी मेरे लिए!

चाणक्य—(घबड़ा कर)—मैं बड़ा विलंब कर रहा हूँ! सुवासिनी, आर्य्य दाण्ड्यायन के आश्रम में पहुँचने के लिए मैं पथ भूल गया हूँ! मेघ के समान मुक्त वर्षा-सा जीवन-दान, सूर्य्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना; सागर के समान कामना—नदियों को पचाते हुए सीमा के बाहर न जाना; यही तो ब्राह्मण का आदर्श है! मुझे चन्द्रगुप्त को मेघ-मुक्त चंद्र देख कर, इस रंग-मञ्च से हट जाना है!

सुवा०—महापुरुष! मैं नमस्कार करती हूँ। विष्णुगुप्त, तुम्हारी बहन तुमसे आशीर्वाद की भिखारिन है। (चरण पकड़ती है)

चाणक्य—(सजल नेत्र से उसके सिर पर हाथ फेरते हुए) सुखी रहो।

[प्रस्थान]

७

कपिशा में एलेक्जैंड्रिया का राजमन्दिर

[कार्नेलिया और उसकी सखी का प्रवेश]

कार्ने०—बहुत दिन हुए देखा था !—वही भारतवर्ष ! वही निर्म्मल ज्योति का देश, पवित्र भूमि, अब हत्या और लूट से वीभत्स बनाई जायगी—ग्रीक सैनिक इस शस्यश्यामला पृथ्वी को रक्त-रञ्जित बनावेंगे ! पिता अपने साम्राज्य से संतुष्ट नहीं, आशा उन्हें दौड़ावेगी। पिशाची की छलना में पड़कर लाखों प्राणियों का नाश होगा। और, सुना है यह युद्ध होगा चन्द्रगुप्त से !

सखी—सम्राट् तो आज स्कन्धावार में जाने वाले हैं !

(राक्षस का प्रवेश)

राक्षस—आयुष्मती ! मैं आ गया।

कार्ने०—नमस्कार ! तुम्हारे देश में तो सुना है कि ब्राह्मण जाति बड़ी तपस्वी और त्यागी है।

राक्षस—हाँ कल्याणी ! वह मेरे पूर्वजों का गौरव है। किंतु हम लोग तो बौद्ध हैं।

कार्ने०—और तुम उसके ध्वंसावशेष हो। मेरे यहाँ ऐसे ही लोगों को देशद्रोही कहते हैं ! तुम्हारे यहाँ इसे क्या कहते हैं ?

राक्षस—राजकुमारी ! मैं कृतघ्न नहीं, मेरे देश में कृतज्ञता पुरुषत्व का चिह्न है। जिसके अन्न से जीवन निर्वाह होता है उसका कल्याण..........

कार्नें०—कृतज्ञता पाश है; मनुष्य की दुर्बलताओं के फंदे उसे और भी दृढ़ करते हैं। परन्तु जिस देश ने तुम्हारा पालन-पोषण करके पूर्व उपकारों का बोझ तुम्हारे ऊपर डाला है, उसे विस्मृत करके क्या तुम कृतघ्न नहीं हो रहे हो? सुकरात का तर्क तुमने पढ़ा है?

राक्षस—तर्क और राजनीति में भेद है; मैं प्रतिशोध चाहता हूँ। राजकुमारी! कर्णिक ने कहा है—

कार्नें०—कि सर्वनाश कर दो! यदि ऐसा है, तो मैं तुम्हारी राजनीति नहीं पढ़ना चाहती।

राक्षस—पाठ थोड़ा अवशिष्ट है। उसे भी समाप्त कर लीजिये, आपके पिता की आज्ञा है।

कार्नें०—मैं तुम्हारे उशना और कर्णिक से ऊब गई हूँ; जाओ!

[राक्षस का प्रस्थान]

कार्नें०—एलिस! इन दिनों जो ब्राह्मण मुझे रामायण पढ़ाता था, वह कहाँ गया? उसने व्याकरण पर अपनी नई टिप्पणी प्रस्तुत की है। वह कितना सरल और विद्वान् है!

एलिस—वह चला गया राजकुमारी!

कार्नें०—बड़ा ही निर्लोभी सच्चा ब्राह्मण था।

(सिल्यूकस का प्रवेश)—अरे पिताजी!

सिल्यू०—हाँ बेटी! अब तुमने अध्ययन बन्द कर दिया, ऐसा क्यों? अभी वह राक्षस मुझसे कह रहा था।

कार्ने०—पिताजी ! उसके देश ने उसका नाम कुछ समझ कर ही रक्खा है—राक्षस ! मैं उससे डरती हूँ।

सिल्यू०—बड़ा विद्वान् है बेटी ! मैं उसे भारतीय प्रदेश का क्षत्रप बनाऊँगा।

कार्ने०—पिताजी ! वह पाप की मलिन छाया है ! उसके भँवों में कितना अन्धकार है, आप देखते नहीं। उससे अलग रहिये। विश्राम लीजिये। विजयों की प्रवंचना में अपने को न हारिये। महत्त्वाकाँक्षा के दाँव पर मनुष्यता सदैव हारी है। डिमास्थनीज़ ने.........

सिल्यू०—मुझे दार्शनिकों से तो विरक्ति हो गई है। क्या ही अच्छा होता कि ग्रीस में दार्शनिक न उत्पन्न होकर, केवल योद्धा ही होते !

कार्ने०—सो तो होता ही है। मेरे पिता किससे कम वीर हैं ! मेरे विजेता पिता ! मैं भूल करती हूँ, क्षमा कीजिये।

सिल्यू०—यही तो मेरी बेटी ! ग्रीक-रक्त वीरता के परमाणु से संगठित है। तुम चलोगी युद्ध देखने ? सिंधुतट के स्कंधावार में रहना।

कार्ने०—चलूँगी।

सिल्यू०—अच्छा तो प्रस्तुत रहना। आम्भीक—तक्षशिला का राजा—इस युद्ध में तटस्थ रहेगा, आज उसका पत्र आया है। और राक्षस कहता था कि चाणक्य—चन्द्रगुप्त का मन्त्री—उससे क्रुद्ध होकर कहीं चला गया है। पंचनद में चन्द्रगुप्त का कोई

सहायक नहीं ! बेटी, सिकन्दर से बड़ा साम्राज्य—उससे बड़ी विजय ! कितना उज्ज्वल भविष्य है !

कार्नें०—हाँ पिताजी !

सिल्यू०—हाँ पिताजी !—उल्लास की एक रेखा भी नहीं—इतनी उदासी ! तू पढ़ना छोड़ दे ! मैं कहता हूँ कि तू दार्शनिक होती जा रही है—ग्रीक-रक्त !

कार्नें०—वही तो कह रही हूँ। आप ही तो कभी पढ़ने के लिये कहते हैं, कभी छोड़ने के लिये !

सिल्यू०—तब ठीक है, मैं ही भूल कर रहा हूँ।

[प्रस्थान]

८

पथ में चंद्रगुप्त और सैनिक

चन्द्र०—पंचनद का नायक कहाँ है ?

एक सैनिक—वह आ रहे हैं, देव !

[नायक का प्रवेश]

नायक—जय हो देव !

चंद्र०—सिंहरण कहाँ ?

[नायक विनम्र होकर पत्र देता है, पत्र पढ़ कर उसे फाड़ते हुए]

चंद्र०—हूँ ! सिंहरण इस प्रतीक्षा में हैं कि कोई बलाधिकृत जाय तो वे अपना अधिकार सौंप दें। नायक ! तुम खड्ग पकड़ सकते हो और उसे हाथ में लिये सत्य से विचलित तो नहीं हो सकते ? बोलो, चन्द्रगुप्त के नाम से प्राण दे सकते हो ? मैंने प्राण देनेवाले वीरों को देखा है। चन्द्रगुप्त युद्ध करना जानता है। और विश्वास रक्खो, उसके नाम का जयघोष विजयलक्ष्मी का मंगल-गान है ! आज से मैं ही बलाधिकृत हूँ; मैं आज सम्राट् नहीं, सैनिक हूँ ! चिंता क्या ? सिंहरण और गुरुदेव न साथ दें, डर क्या ! सैनिको ! सुन लो, आज से मैं केवल सेना-पति हूँ, और कुछ नहीं ! जाओ, यह लो मुद्रा और सिंहरण को छुट्टी दो। कह देना, कि 'तुम दूर खड़े होकर देख लो सिंहरण ! चन्द्रगुप्त कायर नहीं है।' जाओ।

[नायक जाने लगता है]

चन्द्र०—ठहरो ! आम्भीक की क्या लीला है ?

नायक—आम्भीक ने यवनों से कहा है कि ग्रीक-सेना मेरे राज्य से जा सकती है, परंतु युद्ध के लिये सैनिक न दूँगा, क्योंकि मैं उन पर स्वयं विश्वास नहीं करता।

चंद्र०—और वह कर ही क्या सकता था ! कायर ! अच्छा आओ; देखो, वितस्ता के उस पार हम लोगों को शीघ्र पहुँचना चाहिये। तुम सैन्य लेकर मुझसे वहीं मिलो।

[नायक का प्रस्थान]

एक सैनिक—मुझे क्या आज्ञा है, मगध जाना होगा ?

चंद्र०—आर्य्य शकटार को पत्र दे देना, और सब समाचार सुना देना। मैंने लिख तो दिया है, परंतु तुम भी उनसे इतना कह देना कि इस समय मुझे सैनिक और शस्त्र तथा अन्न चाहिये। देश में डौंड़ी फेर दें कि आर्य्यावर्त्त में शस्त्र ग्रहण करने में जो समर्थ हैं, सैनिक हैं और जितनी सम्पत्ति है, युद्ध-विभाग की है। जाओ।

[सैनिक का प्रस्थान]

दूसरा०—शिविर आज कहाँ रहेगा देव ?

चंद्र०—अश्व की पीठ पर सैनिक ! कुछ खिला दो, और अश्व बदलो। एक क्षण विश्राम नहीं। हाँ ठहरो तो; सब सेना-निवेशों में आज्ञा-पत्र भेज दिये गये ?

दूसरा—हाँ देव !

चंद्र०—तो अब मैं बिजली से भी शीघ्र पहुँचना चाहता हूँ। चलो, शीघ्र प्रस्तुत हो।

[सब का प्रस्थान]

चंद्र०—(आकाश की ओर देख कर) अदृष्ट ! खेल न करना ! चंद्रगुप्त मरण से भी अधिक भयानक को आलिंगन करने के लिए प्रस्तुत है ! विजय—मेरे चिर सहचर !

[हँसते हुए प्रस्थान]

६

ग्रीक-शिविर

कार्ने०—एलिस ! यहाँ आने पर मन जैसे उदास हो गया है। इस संध्या के दृश्य ने मेरी तन्मयता में एक स्मृति की सूचना दी है। सरला संध्या, पक्षियों के नाद से शांति को बुलाने लगी है। देखते-देखते, एक-एक करके दो-चार नक्षत्र उदय होने लगे। जैसे प्रकृति, अपनी सृष्टि की रक्षा; हीरों की कील से जड़ी हुई काली ढाल लेकर कर रही है और पवन किसी मधुर कथा का भार लेकर मचलता हुआ चला जा रहा है। यह कहाँ जायगा एलिस !

एलिस—अपने प्रिय के पास !

कार्ने०—दुर ! तुझे तो प्रेम-ही-प्रेम सूझता है।

[दासी का प्रवेश]

दासी—राजकुमारी ! एक स्त्री वंदी होकर आई है।

कार्ने०—(आश्चर्य से)—तो उसे पिताजी ने मेरे पास भेजा होगा, उसे शीघ्र ले आओ !

[दासी का प्रस्थान; सुवासिनी का प्रवेश]

कार्ने०—तुम्हारा नाम क्या है ?

सुवा०—मेरा नाम सुवासिनी है। मैं किसी को खोजने जा रही थी; सहसा वन्दी कर ली गई। वह भी कदाचित् आपके यहाँ वन्दी हो !

कार्ने०—उसका नाम ?

सुवा०—राक्षस।

कार्नें०—ओहो, तुमने उससे ब्याह कर लिया है क्या? तब तो तुम सचमुच अभागिनी हो!

सुवा०—(चौंक कर)—ऐसा क्यों? अभी तो ब्याह होने वाला है, क्या आप उसके सम्बन्ध में कुछ जानती हैं?

कार्नें०—बैठो, बताओ, तुम बन्दी बन कर रहना चाहती हो, या मेरी सखी? झटपट बोलो!

सुवा०—बन्दी बनकर तो आई हूँ, यदि सखी हो जाऊँ तो अहोभाग्य!

कार्नें०—प्रतिज्ञा करनी होगी कि मेरी अनुमति के बिना तुम ब्याह न करोगी!

सुवा०—स्वीकार है।

कार्नें०—अच्छा, अपनी परीक्षा दो, बताओ, तुम विवाहिता स्त्रियों को क्या समझती हो?

सुवा०—धनियों के प्रमोद का कटा-छँटा हुआ शोभावृक्ष! कोई डाली उल्लास से आगे बढ़ी, कुतर दी गई! माली के मन से सँवरे हुए गोल-मटोल खड़े रहो!

कार्नें०—वाह, ठीक कहा। यही तो मैं भी सोचती थी। क्यों एलिस! अच्छा, यौवन और प्रेम को क्या समझती हो?

सुवा०—अकस्मात् जीवन-कानन में, एक राका-रजनी की छाया में छिप कर मधुर वसंत घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल—'कौन?'

कह कर सबको रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है। राजकुमारी! फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है, आँसू-भरी स्मृतियाँ मकरंद-सी उसमें छिपी रहती हैं।

कार्ने०—(उसे गले लगाकर) आह सखी! तुम तो कवि हो। तुम प्रेम करना जानती हो और जानती हो उसका रहस्य। तुमसे हमारी पटेगी। एलिस! जा, पिताजी से कह दे, कि मैंने उस स्त्री को अपनी सखी बना लिया।

[एलिस का प्रस्थान]

सुवा०—राजकुमारी! प्रेम में स्मृति का ही सुख है। एक टीस उठती है, वही तो प्रेम का प्राण है। आश्चर्य तो यह है कि प्रत्येक कुमारी के हृदय में वह निवास करती है। पर, उसे सब प्रत्यक्ष नहीं कर सकतीं, सबको उसका मार्मिक अनुभव नहीं होता।

कार्ने०—तुम क्या कहती हो?

सुवा०—वही स्त्री-जीवन का सत्य है। जो कहती है कि मैं नहीं जानती—वह दूसरे को धोखा तो देती ही है, अपने को भी प्रवंचित करती है! धड़कते हुए रमणी-वक्ष पर हाथ रख कर उसी कम्पन में स्वर मिला कर कामदेव गाता है। और राजकुमारी वही काम-संगीत की तान सौंदर्य की रंगीन लहर बनकर, युवतियों के मुख में लज्जा और स्वास्थ्य की लाली चढ़ाया करती है।

कार्ने०—सखी! मदिरा की प्याली में तू स्वप्न-सी लहरें को मत आन्दोलित कर। स्मृति बड़ी निष्ठुर है। यदि प्रेम ही जीवन का सत्य है, तो संसार ज्वालामुखी है!

[सिल्यूकस का प्रवेश]

सिल्यू०—तो बेटी, तुमने इसे अपने पास रख ही लिया ! मन बहलेगा, अच्छा तो है। मैं भी इसी समय जा रहा हूँ; कल ही आक्रमण होगा। देखो, सावधान रहना।

कार्ने०—किस पर आक्रमण होगा पिताजी ?

सिल्यू—चन्द्रगुप्त की सेना पर। वितस्ता के इस पार सेना आ पहुँची है, अब युद्ध में विलम्ब नहीं।

कार्ने०—पिताजी, उसी चन्द्रगुप्त से युद्ध होगा, जिसके लिये उस साधु ने भविष्यवाणी की थी ? वही तो भारत का राजा हुआ न ?

सिल्यू०—हाँ बेटी, वही चन्द्रगुप्त।

कार्ने०—पिताजी, आप ही ने मृत्यु-मुख से उसका उद्धार किया था और उसी ने आपके प्राणों की रक्षा की थी ?

सिल्यू०—हाँ, वही तो।

कार्ने०—और उसी ने आपकी कन्या के सम्मान की रक्षा की थी ?—फिलिप्स का वह अशिष्ट आचरण पिताजी !

सिल्यू०—तभी तो बेटी, मैंने साइवर्टियस को दूत बनाकर समझाने के लिये भेजा था। किन्तु उसने उत्तर दिया कि मैं सिल्यूकस का कृतज्ञ हूँ, तो भी क्षत्रिय हूँ, रणदान जो भी माँगेगा, उसे दूँगा। युद्ध होना अनिवार्य है।

कार्ने०—तब मैं कुछ नहीं कहती।

सिल्यू०—(प्यार से)—तू रूठ गई बेटी। भला अपनी कन्या के सम्मान की रक्षा करनेवाले का मैं वध करूँगा!

सुवा०—फिलिप्स को द्वंद्व-युद्ध में सम्राट् चन्द्रगुप्त ने मार डाला। सुना था, इन लोगों का कोई व्यक्तिगत विरोध……

सिल्यू०—चुप रहो, तुम!—(कार्नेलिया) बेटी, मैं चन्द्रगुप्त को क्षत्रप बना दूँगा; बदला चुक जायगा। मैं हत्यारा नहीं, विजेता सिल्यूकस हूँ।

[प्रस्थान]

कार्ने०—(दीर्घ निःश्वास लेकर)—रात अधिक हो गई, चलो सो रहें! सुवासिनी, तुम कुछ गाना जानती हो?

सुवा०—जानती थी, भूल गई हूँ। कोई वाद्य यन्त्र तो आप न बजाती होंगी?—(आकाश की ओर देखकर) रजनी कितने रहस्यों की रानी है—राजकुमारी!

कार्ने०—रजनी! मेरी स्वप्न-सहचरी!

सुवा०—गाने लगती है—

सखे! वह प्रेममयी रजनी।
आँखों में स्वप्न बनी,
सखे! वह प्रेममयी रजनी।
कोमल द्रुमदल निष्कम्प रहे,
ठिठका-सा चन्द्र खड़ा।

माधव सुमनों में गूँथ रहा
तारों की किरन-अनी।
सखे ! वह प्रेममयी रजनी
नयनों में मदिर विलास लिये,
उज्ज्वल आलोक खिला।
हँसती-सी सुरभि सुधार रही,
अलकों की मृदुल अनी।
सखे ! वह प्रेममयी रजनी।
मधु मन्दिर-सा यह विश्व बना,
मीठी झनकार उठी।
केवल तुमको थी देख रही—
स्मृतियों की भीड़ बनी।
सखे ! वह प्रेममयी रजनी।

१०

युद्ध-क्षेत्र के समीप चाणक्य और सिंहरण

चाणक्य—तो युद्ध आरंभ हो गया ?

सिंह०—हाँ आर्य्य ! प्रचण्ड विक्रम से सम्राट् ने आक्रमण किया है। यवन-सेना थर्रा उठी है। आज के युद्ध में प्राणों को तुच्छ गिन कर वे भीम पराक्रम का परिचय दे रहे हैं। गुरुदेव ! यदि कोई दुर्घटना हुई तो ? आज्ञा दीजिये, अब मैं अपने को नहीं रोक सकता। तक्षशिला और मालवों की चुनी हुई सेना प्रस्तुत है, किस समय काम आवेगी !

चाणक्य—जब चन्द्रगुप्त की नासीर सेना का बल क्षय होने लगे और सिंधु के इस पार की यवनों की समस्त सेना युद्ध में सम्मिलित हो जाय, उसी समय आम्भीक आक्रमण करे। और तुम चन्द्रगुप्त का स्थान ग्रहण करो। दुर्ग की सेना सेतु की रक्षा करेगी, साथ ही चन्द्रगुप्त को सिंधु के उस पार जाना होगा—यवन-स्कंधावार पर आक्रमण करने ! समझे ?

[सिंहरण का प्रस्थान]

[चर का प्रवेश]

चर—क्या आज्ञा है ?

चाणक्य—जब चन्द्रगुप्त की सेना सिंधु के उस पार पहुँच जाय, तब तुम्हें ग्रीकों के प्रधान शिविर की ओर उस आक्रमण को प्रेरित करना होगा। चन्द्रगुप्त के पराक्रम की अग्नि में घी डालने का काम तुम्हारा है।

चर—जैसी आज्ञा (प्रस्थान) ।

[दूसरे चर का प्रवेश]

चर—देव ! राक्षस प्रधान शिविर में हैं ।

चाणक्य—जाओ, ठीक है । सुवासिनी से मिलते रहो ।

[दोनों का प्रस्थान]

[एक ओर से सिल्यूकस, दूसरी ओर से चन्द्रगुप्त]

सिल्यू०—चन्द्रगुप्त ! तुम्हें राजपद की बधाई देता हूँ ।

चन्द्र०—स्वागत सिल्यूकस ! अतिथि की-सी तुम्हारी अभ्यर्थना करने में हम विशेष सुखी होते, परन्तु क्षात्र-धर्म बड़ा कठोर है । आर्य्य कृतघ्न नहीं होते । प्रमाण यही है कि मैं अनुरोध करता हूँ, यवन-सेना बिना युद्ध के लौट जाय ।

सिल्यू०—वाह ! तुम वीर हो, परन्तु मुझे भारत-विजय करना ही होगा । फिर चाहे तुम्हीं को क्षत्रप बना दूँ ।

चन्द्रगुप्त—यही तो असम्भव है । तो फिर हो युद्ध !

[रणवाद्य, युद्ध, लड़ते हुए उन लोगों का प्रस्थान; आम्भीक के सैन्य का प्रवेश]

आम्भीक—मगध-सेना प्रत्यावर्त्तन करती है । ओह, कैसा भीषण युद्ध है ! अभी ठहरें ? अरे, देखो कैसा परिवर्तन !—यवन-सेना हट रही है; लो, वह भगी ।

[चर का प्रवेश]

चर—आक्रमण कीजिये, जिसमें सिंधु तक यह सेना लौट न सके । आर्य्य चाणक्य ने कहा है, युद्ध अवरोधात्मक होना चाहिये ।

[प्रस्थान]

[रणवाद्य बजता है; लौटती हुई यवन-सेना का दूसरी ओर से प्रवेश]

सिल्यू०—कौन ? प्रवंचक आम्भीक ! कायर !

आम्भीक—हाँ सिल्यूकस ! आम्भीक सदा प्रवंचक रहा; परन्तु यह प्रवंचना कुछ महत्त्व रखती है। सावधान !

[युद्ध—सिल्यूकस को घायल करते हुए आम्भीक की मृत्यु। यवन-सेना का प्रस्थान। सैनिकों के साथ सिंहरण का प्रवेश]

"सम्राट् चन्द्रगुप्त की जय !"

[चन्द्रगुप्त का प्रवेश]

चन्द्रगुप्त—भाई सिंहरण, बड़े अवसर पर आये !

सिंह०—हाँ सम्राट् ! और समय चाहे मालव न मिलें, पर प्राण देने का महोत्सव-पर्व वे नहीं छोड़ सकते ! आर्य्य चाणक्य ने कहा कि मालव और तक्षशिला की सेना प्रस्तुत मिलेगी। आप ग्रीकों के प्रधान शिविर का अवरोध कीजिये !

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव ने यहाँ भी मेरा ध्यान नहीं छोड़ा ! मैं उनका अपराधी हूँ सिंहरण

सिंह०—मैं यहाँ देख लूँगा, आप शीघ्र जाइये; समय नहीं है ! मैं भी आता हूँ।

सेना—महाबलाधिकृत सिंहरण की जय !

[चन्द्रगुप्त का प्रस्थान, दूसरी ओर से सिंहरण आदि का प्रस्थान]

११

शिविर का एक अंश

[चिन्तित भाव से राक्षस का प्रवेश]

राक्षस—क्या होगा ? आग लग गई है, बुझ न सकेगी ? तो मैं कहाँ रहूँगा ? क्या हम सब ओर से गये ?

सुवासिनी—(प्रवेश करके)—सब ओर से गये राक्षस ! समय रहते तुम सचेत न हुए !

राक्षस—तुम कैसे सुवासिनी !

सुवा०—तुम्हें खोजते हुए वन्दी बनाई गई। अब उपाय क्या है ? चलोगे ?

राक्षस—कहाँ सुवासिनी ! इधर खाई, उधर पर्वत ! कहाँ चलूँ ?

सुवा०—मैं इस युद्ध-विप्लव से घबरा रही हूँ। वह देखो, रण-वाद्य वज रहे हैं ! यह स्थान भी सुरक्षित नहीं। मुझे बचाओ राक्षस—(भय का अभिनय करती है)

राक्षस—(उसे आश्वासन देते हुए)—मेरा कर्त्तव्य मुझे पुकार रहा है। प्रिये, मैं रणक्षेत्र से भाग नहीं सकता, चन्द्रगुप्त के हाथों से प्राण देने में ही कल्याण है ! किन्तु तुमको........

[इधर-उधर देखता है, रण-कं्शाहल]

सुवा०—बचाओ !

राक्षस—(निःश्वास लेकर)—अदृष्ट ! दैव प्रतिकूल है। चलो सुवासिनी !

दोनों का प्रस्थान

एकाकिनी कार्नेलिया का प्रवेश

रथ-शब्द

कार्ने०—यह क्या ! पराजय न हुआ होता तो शिविर पर आक्रमण कैसे होता ?—(विचार करके)—चिन्ता नहीं, ग्रीक बालिका भी प्राण देना जानती है। आत्म-सम्मान—ग्रीस का आत्म-सम्मान जिये !—(छुरी निकालती है)—तो अन्तिम समय एक बार नाम लेने में कोई अपराध है ?—चन्द्रगुप्त !

[विजयी चन्द्रगुप्त का प्रवेश]

चन्द्र०—यह क्या !—(छुरी ले लेता है)—राजकुमारी !

कार्ने०—निर्दय हो चन्द्रगुप्त ! मेरे बूढ़े पिता की हत्या कर चुके होगे ! सम्राट् हो जाने पर आँखें रक्त देखने की प्यासी हो जाती हैं न !

चन्द्र०—राजकुमारी ! तुम्हारे पिता आ रहे हैं।

[सैनिकों के बीच में सिल्यूकस का प्रवेश]

कार्ने०—(हाथों से मुँह छिपा कर)—आह ! विजेता सिल्यूकस को भी चन्द्रगुप्त के हाथों से पराजित होना पड़ा !

सिल्यू०—हाँ बेटी।

चन्द्र०—यवन-सम्राट् ! आर्य्य कृतघ्न नहीं होते। आपको सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देना ही मेरा कर्तव्य था। सिंधु के इस पार अपने सेना-निवेश में आप हैं; मेरे बंदी नहीं ! मैं जाता हूँ।

सिल्यू०—इतनी महत्ता !

चंद्र०—राजकुमारी ! पिताजी को विश्राम की आवश्यकता है। फिर हम लोग मित्रों के समान मिल सकते हैं।

[चन्द्रगुप्त का सैनिकों के साथ प्रस्थान;
कार्नेलिया उसे देखती रहती है]

साइ०—उसने तो हम लोगों को मुक्त कर दिया था, फिर अवरोध क्यों ?

मेगा०—समस्त ग्रीक-शिविर बन्दी है ! यह उनके मन्त्री चाणक्य की चाल है। मालव और तक्षशिला की सेना हिरात के पथ में खड़ी है; लौटना असम्भव है।

साइ०—क्या चाणक्य ! वह तो चन्द्रगुप्त से क्रुद्ध होकर कहीं चला गया था न ? राक्षस ने यही कहा था; क्या वह झूठा था ?

मेगा०—सब षड्यन्त्र में मिले थे। शिविर को अरक्षित-अवस्था में छोड़, बिना कहे सुवासिनी को लेकर खिसक गया ! अभी भी न समझे ! इधर चाणक्य ने आज मुझसे यह भी कहा है कि मुझे आँटिगोनस के आक्रमण की भी सूचना मिली है।

[सिल्यूकस का प्रवेश]

सिल्यू०—क्या ! आँटिगोनस !

मेगा०—हाँ सम्राट्, इस मर्म से अवगत होकर भारतीय कुछ नियमों पर ही मैत्री किया चाहते हैं।

सिल्यू०—तो क्या ग्रीक इतने कायर हैं ! युद्ध होगा साइबर्टियस ! हम सबको मरना होगा।

मेगा०—(पत्र देकर)—इसे पढ़ लीजिये, सीरिया पर

आँटिगोनस की चढ़ाई समीप है। आपको उस पूर्व-सञ्चित और सुरक्षित साम्राज्य को न गँवा देना चाहिये।

सिल्यू०—(पत्र पढ़ कर विषाद से)—तो वे क्या चाहते हैं?

मेगा०—सम्राट्! सन्धि करने के लिये तो चन्द्रगुप्त प्रस्तुत हैं; परन्तु नियम बड़े कड़े हैं। सिन्धु के पश्चिम के प्रदेश आर्य्यावर्त की नैसर्गिक सीमा निषध पर्वत तक वे लोग चाहते हैं। और भी......

सिल्यू०—चुप क्यों हो गये? कहो, चाहे वे शब्द कितने ही कटु हों, मैं उन्हें सुनना चाहता हूँ।

मेगा०—चाणक्य ने एक और भी अड़ंगा लगाया है। उसने कहा है, सिकन्दर के साम्राज्य में जो भावी विप्लव है, वह मुझे भली भाँति अवगत है। पश्चिम का भविष्य रक्त-रञ्जित है, इसलिये यदि पूर्व में स्थायी शान्ति चाहते हों तो ग्रीक-सम्राट्, चन्द्रगुप्त को अपना बन्धु बना लें।

सिल्यू०—सो कैसे?

मेगा०—राजकुमारी कार्नेलिया का सम्राट् चन्द्रगुप्त से परिणय करके।

सिल्यू०—अधम ग्रीक! तुम इतने पतित हो?

मेगा०—क्षमा हो सम्राट्! वह ब्राह्मण कहता है कि आर्य्यावर्त्त की सम्राज्ञी भी तो कार्नेलिया ही होगी।

साइब०—परन्तु इसमें राजकुमारी की भी सम्मति चाहिये।

सिल्यू०—असम्भव! घोर अपमानजनक।

मेगा०—मैं क्षमा किया जाऊँ तो सम्राट्! राजकुमारी का चन्द्रगुप्त से पूर्व परिचय भी है; कौन कह सकता है कि प्रणय अदृश्य सुनहली रश्मियों से एक दूसरे को न खींच चुका हो! सम्राट् सिकन्दर के अभियान का स्मरण कीजिये—मैं उस घटना को भूल नहीं गया हूँ।

सिल्यू०—मेगास्थनीज़! मैं यह जानता हूँ! कार्नेलिया ने इस युद्ध में जितनी बाधाएँ उपस्थित कीं, वे सब इसकी साक्षी हैं कि उसके मन में कोई भाव है, पूर्व स्मृति है; फिर भी—फिर भी, न जाने क्यों! वह देखो, आ रही है! तुम लोग हट तो जाओ!

[साइबर्टियस और मेगास्थनीज़ का प्रस्थान और कार्नेलिया का प्रवेश]

कार्ने०—पिताजी!

सिल्यू०—बेटी कार्नी!

कार्ने०—आप चिन्तित क्यों हैं?

सिल्यू०—चन्द्रगुप्त को दण्ड कैसे दूँ? इसी की चिन्ता है।

कार्ने०—क्यों पिताजी, चन्द्रगुप्त ने क्या अपराध किया है?

सिल्यू०—हैं! अभी बताना होगा कार्नेलिया! भयानक युद्ध होगा, इसमें चाहे दोनों का सर्वनाश हो जाय!

कार्ने०—युद्ध तो हो चुका। अब क्या मेरी प्रार्थना आप सुनेंगे? पिताजी! विश्राम लीजिये! चन्द्रगुप्त का तो कोई अपराध नहीं, क्षमा कीजिये पिता! (घुटने टेकती है)

सिल्यू०—(बनावटी क्रोध से)—देखता हूँ कि, पिता को पराजित करनेवालेपर तुम्हारी असीम अनुकम्पा है!

कार्नें०—(रोती हुई)—मैं स्वयं पराजित हूँ ! मैंने अपराध किया है पिताजी ! चलिये, इस भारत की सीमा से दूर ले चलिये, नहीं तो मैं पागल हो जाऊँगी।

सिल्यू०—(उसे गले लगाकर)—तब मैं जान गया कार्नी ! तू सुखी हो बेटी ! तुझे भारत की सीमा से दूर न जाना होगा—तू भारत की सम्राज्ञी होगी।

कार्नें०—पिताजी !

[प्रस्थान]

१३

दाण्ड्यायन का तपोवन ; ध्यानस्थ चाणक्य

[भयभीत भाव से राक्षस और सुवासिनी का प्रवेश]

राक्षस—चारों ओर आर्य्य-सेना ! कहीं से निकलने का उपाय नहीं। क्या किया जाय सुवासिनी !

सुवा०—यह तपोवन है, यहीं कहीं हम लोग छिप रहेंगे।

राक्षस—मैं देश-द्रोही, ब्राह्मण-द्रोही बौद्ध ! हृदय काँप रहा है। क्या होगा !

सुवा०—आर्य्यों का तपोवन इन राग-द्वेषों से परे है।

राक्षस—तो चलो कहीं।—(सामने देख कर)—सुवासिनी ! वह देखो—वह कौन !

सुवा०—(देखकर) आर्य्य चाणक्य।

राक्षस—आर्य्य-साम्राज्य का महामन्त्री इस तपोवन में !

सुवा०—यही तो ब्राह्मण की महत्ता है राक्षस ! यों तो मूर्खों की निवृत्ति भी प्रवृत्तिमूलक होती है। देखो, यह सूर्य्यरश्मियों का-सा रस-ग्रहण कितना निष्काम कितना निवृत्तिपूर्ण है !

राक्षस—सचमुच मेरा भ्रम था सुवासिनी ! मेरी इच्छा होती है कि चल कर इस महत्त्व के सामने अपना अपराध स्वीकार कर लूँ, और क्षमा माँग लूँ !

सुवा०—बड़ी अच्छी बात सोची तुमने। देखो—

[दोनों छिप जाते हैं]

चाणक्य—(आँख खोलता हुआ)—कितना गौरवमय आज का अरुणोदय है! भगवान् सविता, तुम्हारा आलोक, जगत् का मंगल करे! मैं आज जैसे निष्काम हो रहा हूँ। विदित होता है कि आज तक जो कुछ किया, वह सब भ्रम था, मुख्य वस्तु आज सामने आई। आज मुझे अपने अन्तर्निहित ब्राह्मणत्व की उपलब्धि हो रही है। चैतन्य-सागर निस्तरंग है और ज्ञानज्योति निर्मल है। तो क्या मेरा कर्म कुलाल-चक्र अपना निर्मित भाण्ड उतार कर धर चुका! ठीक तो, प्रभात-पवन के साथ सब की सुख-कामना शान्ति का आलिंगन कर रही है। देव! आज मैं धन्य हूँ।

[दूसरी ओर झाड़ी में मौर्य्य]

मौर्य्य—ढोंग है! रक्त और प्रतिशोध, क्रूरता और मृत्यु का खेल देखते ही जीवन बीता; अब क्या मैं इस सरल पथ पर चल सकूँगा? यह ब्राह्मण आँख मूँदने-खोलने का अभिनय भले ही करे, पर मैं! असम्भव है। अरे, जैसे मेरा रक्त खौलने लगा! हृदय में एक भयानक चेतना, एक अवज्ञा का अट्टहास, प्रतिहिंसा जैसे नाचने लगी! यह, एक साधारण मनुष्य, दुर्बल कंकाल, विश्व के समूचे शस्त्र-बल को तिरस्कृत किये बैठा है! रख दूँ गले पर खड्ग, फिर देखूँ तो यह प्राणभिक्षा माँगता है या नहीं! सम्राट् चन्द्रगुप्त के पिता की अवज्ञा! नहीं नहीं, ब्रह्महत्या होगी, हो; मेरा प्रतिशोध और चन्द्रगुप्त का निष्कण्टक राज्य।—

[छुरी निकाल कर चाणक्य को मारना चाहता है, सुवासिनी दौड़

कर उसका हाथ पकड़ लेती है। दूसरी ओर से अलका, सिंहरण, अपनी माता के साथ चन्द्रगुप्त का प्रवेश]

चन्द्र०—(आश्चर्य और क्रोध से)—यह क्या पिताजी ! सुवासिनी ! बोलो, बात क्या है ?

सुवा०—मैंने देखा कि सेनापति, आर्य्य चाणक्य को मारना ही चाहते हैं, इसलिए मैंने इन्हें रोका !

चन्द्र०—गुरुदेव, प्रणाम। चन्द्रगुप्त क्षमा का भिखारी नहीं, न्याय करना चाहता है। बतलाइये, पूरा विवरण सुनना चाहता हूँ और पिताजी, आप शस्त्र रख दीजिये। सिंहरण ! (सिंहरण आगे बढ़ता है) ।

चाणक्य—(हँस कर)—सम्राट् ! न्याय करना तो राजा का कर्त्तव्य है; परन्तु यहाँ पिता और गुरु का सम्बन्ध है, कर सकोगे ?

चन्द्र०—पिताजी !

मौर्य्य—हाँ चन्द्रगुप्त, मैं इस उद्धत ब्राह्मण का – सब की अवज्ञा करनेवाले महत्त्वाकांक्षी का—वध करना चाहता था। कर न सका, इसका दुःख है। इस कुचक्रपूर्ण रहस्य का अन्त न कर सका।

चन्द्र०—पिताजी, राज्य-व्यवस्था आप जानते होंगे—वध के लिये प्राणदण्ड होता है और आपने गुरुदेव का—इस आर्य्य-साम्राज्य के निर्म्माणकर्त्ता ब्राह्मण का—वध करने जाकर कितना गुरुतर अपराध किया है !

चाणक्य—किंतु सम्राट, वह बध हुआ नहीं, ब्राह्मण जीवित है। अब यह उसकी इच्छा पर है कि वह व्यवहार के लिये न्यायाधिकरण से प्रार्थना करे या नहीं।

चन्द्रगुप्त-जननी—आर्य्य चाणक्य!

चाणक्य—ठहरो देवी!—(चन्द्रगुप्त से)—मैं प्रसन्न हूँ वत्स! यह मेरे अभिनय का दण्ड था। मैंने आज तक जो किया, वह न करना चाहिये था; उसी का महाशक्ति-केन्द्र ने प्रायश्चित्त कराना चाहा। मैं विश्वस्त हूँ कि तुम अपना कर्त्तव्य कर लोगे। राजा न्याय कर सकता है, परन्तु ब्राह्मण क्षमा कर सकता है।

राक्षस—(प्रवेश करके)—आर्य्य चाणक्य! आप महान् हैं; मैं आपका अभिनन्दन करता हूँ। अब न्यायाधिकरण से, अपने अपराध—विद्रोह—का दण्ड पाकर सुखी रह सकूँगा। सम्राट्, आपकी जय हो!

चाणक्य—सम्राट, मुझे आज का अधिकार मिलेगा?

चन्द्र०—आज वही होगा गुरुदेव! जो आज्ञा होगी।

चाणक्य—मेरा किसी से द्वेष नहीं, केवल राक्षस के सम्बन्ध में अपने पर सन्देह कर सकता था, आज उसका भी अन्त हो। सम्राट्, सिल्यूकस आते ही होंगे, उसके पहले ही हमें अपना सब विवाद मिटा देना चाहिये।

चन्द्र०—जैसी आज्ञा।

चाणक्य—आर्य्य शकटार के मार्गी जामाता अमात्य राक्षस

के लिये, मैं अपना मन्त्रित्व छोड़ता हूँ। राक्षस! सुवासिनी को सुखी रखना।

[सुवासिनी और राक्षस चाणक्य को प्रणाम करते हैं]

मौर्य्य—और मेरा दण्ड? आर्य्य चाणक्य, मैं क्षमा ग्रहण न करूँ, तब? आत्म-हत्या करूँगा!

चाणक्य—मौर्य्य! तुम्हारा पुत्र आज आर्य्यावर्त्त का सम्राट् है—अब और कौनसा सुख तुम देखना चाहते हो? काषाय ग्रहण कर लो, इसमें अपने अभिमान को मारने का तुम्हें अवसर मिलेगा। वत्स चन्द्रगुप्त! शस्त्र दो अमात्य राक्षस को!

[मौर्य्य शस्त्र फेंक देता है। चन्द्रगुप्त शस्त्र देता है। राक्षस सविनय ग्रहण करता है।]

सब—सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य्य की जय!

[प्रतिहार का प्रवेश]

प्रति०—सम्राट् सिल्यूकस शिविर से निकल चुके हैं।

चाणक्य—उसकी अभ्यर्थना राजमन्दिर में होनी चाहिए, तपोवन में नहीं।

चन्द्र—आर्य्य, आप उस समय न उपस्थित रहेंगे?

चाणक्य—देखा जायगा।

[सब का प्रस्थान]

१४

राज-सभा

[एक ओर से सपरिवार चन्द्रगुप्त, और दूसरी ओर से साइबर्टियस, मेगास्थनीज़, एलिस और कार्नेलिया के साथ सिल्यूकस का प्रवेश; सब बैठते हैं।]

चन्द्र०—विजेता सिल्यूकस का मैं अभिनन्दन करता हूँ—स्वागत !

सिल्यू०—सम्राट् चन्द्रगुप्त ! आज मैं विजेता नहीं, विजित से अधिक भी नहीं। मैं संधि और सहायता के लिए आया हूँ।

चन्द्र०—कुछ चिन्ता नहीं सम्राट, हम लोग शस्त्र-विनिमय कर चुके, अब हृदय का विनिमय······

सिल्यू०—हाँ, हाँ, कहिये !

चन्द्र०—राजकुमारी, स्वागत ! मैं उस कृपा को नहीं भूल गया जो ग्रीक-शिविर में रहने के समय मुझे आपसे प्राप्त हुई थी।

सिल्यू०—हाँ कार्नी ! चन्द्रगुप्त उसके लिए कृतज्ञता प्रकट कर रहे हैं।

कार्नि०—मैं आपको भारतवर्ष का सम्राट् देख कर कितनी प्रसन्न हूँ।

चन्द्र०—अनुगृहीत हुआ (सिल्यूकस से) आर्टिगोनस से युद्ध होगा। सम्राट् सिल्यूकस, गज सेना आपकी सहायता के लिये

जायगी। हिरात के आपके जो प्रतिनिधि रहेंगे, उनसे समाचार मिलने पर और भी सहायता के लिए आर्य्यावर्त्त प्रस्तुत है।

सिल्यू०—इसके लिए धन्यवाद देता हूँ। सम्राट् चन्द्रगुप्त, आज से हम लोग दृढ़ मैत्री के बन्धन में बँधे! प्रत्येक का दुख-सुख, दोनों का होगा। किन्तु एक अभिलाषा मन में रह जायगी।

चंद्र०—वह क्या?

सिल्यू०—उस बुद्धि सागर, आर्य्य-साम्राज्य के महामंत्री, चाणक्य को देखने की बड़ी अभिलाषा थी।

चंद्र०—उन्होंने विरक्त होकर, शांतिमय जीवन बिताने का निश्चय किया है।

[सहसा चाणक्य का प्रवेश, सब अभ्युत्थान देखकर प्रणाम करते हैं।]

सिल्यू०—आर्य्य चाणक्य, मैं आपका अभिन्दन करता हूँ।

चाणक्य—सुखी रहो सिल्यूकस, हम भारतीय ब्राह्मणों के पास सब की कल्याण-कामना के अतिरिक्त और क्या है, जिससे अभ्यार्थना करूँ? मैं, आज का दृश्य देखकर चिर-विश्राम के लिए, संसार से अलग होना चाहता हूँ।

सिल्यू०—और मैं संधि करके स्वदेश लौटना चाहता हूँ। आपके आशीर्वाद की बड़ी अभिलाषा थी। संधिपत्र······

चाणक्य—किंतु संधिपत्र स्वार्थों से प्रबल नहीं होते, हस्ताक्षर तलवारों को रोकने में असमर्थ प्रमाणित होंगे। तुम दोनों ही सम्राट् हो, शस्त्र-व्यवसायी हो; फिर भी संघर्ष हो

जाना कोई आश्चर्य की बात न होगी। अतएव, दो बालुका पूर्ण कगारों के बीच में एक निर्मल स्रोतस्विनी का रहना आवश्यक है!

सिल्यू०—सो कैसे?

चाणक्य—ग्रीस की गौरव-लक्ष्मी कार्नेलिया को मैं भारत की कल्याणी बनाया चाहता हूँ।—यही ब्राह्मण की प्रार्थना है

सिल्यू०—मैं तो इससे प्रसन्न ही हूँगा, यदि………

चाणक्य—यदि का काम नहीं; मैं जानता हूँ, इसमें दोनों प्रसन्न और सुखी होंगे।

सिल्यू०—(कार्नेलिया की ओर देखता है, वह सलज्ज सिर झुका लेती है)—तब आओ बेटी………आओ चन्द्रगुप्त!

[दोनों ही सिल्यूकस के पास जाते हैं, सिल्यूकस उनका हाथ मिलाता है। फूलों की वर्षा और जयध्वनि]

चाणक्य—(मौर्य का हाथ पकड़ कर) चलो, अब हम लोग च

यवनिका

स्वर-लिपि के संकेत-चिह्नों का व्योरा

१—जिन स्वरों के नीचे बिन्दु हो, वे मंद्र सप्तक के; जिनमें कोई बिन्दु न हो, वे मध्य सप्तक के हैं तथा जिनके ऊपर बिन्दु हो, वे तार सप्तक के हैं। जैसे—स, स, सं।

२—जिन स्वरों के नीचे लकीर हो, वे कोमल हैं। जैसे—रे, ग, ध, नि। जिनमें कोई चिह्न न हो, वे शुद्ध हैं। जैसे—रे, ग, ध, नि। तीव्र मध्यम के ऊपर खड़ी पाई रहती है—मं।

३—आलंकारिक स्वर (गमक) प्रधान स्वर के ऊपर दिया

ध म

है; यथा—

प म प

४—जिस स्वर के आगे बेंड़ी पाई हो '—' उसे उतनी मात्रा तक दीर्घ करना, जितनी पाइयाँ हों जैसे—स—, रे — —, ग— — —।

५—जिस अक्षर के आगे जितने अवग्रह ऽ हों, उतनी मात्रा तक दीर्घ करना। जैसे—रा ऽ म, सखी ऽऽ, आ ऽऽऽ ज।

६—'‿' इस चिह्न में जितने स्वर या बोल रहें, वे एक मात्रा-काल में गाए या बजाए जाएँगे। जैसे—स रे, ग म।

७—जिस स्वर के ऊपर से किसी दूसरे स्वर तक चन्द्राकार लकीर जाय, वहाँ से वहाँ तक मींड़ समझना। जैसे—
स– –म, रे– –प इत्यादि।

८—सम का चिह्न ×, ताल के लिए अंक और खाली का द्योतक ० है। इनका विभाजन खड़ी लम्बी रेखाओं से दिखाया गया है।

९—'ऽ' यह विश्रान्ति का चिह्न है। ऐसे जितने चिह्न हों, उतने मात्रा-काल तक विश्रान्ति जानना।

खम्माच—तीन ताल

स्थायी

		०	३
	रे ग	स रे स म	ग ग ग —
	तु म	क न क कि	र ण के ऽ
×	२		
— प प	— प म ग	म म प प	प ध सं सं
ऽ न्त रा	ऽ ल से ऽ	लु क छि प	क र ध ल
ध प म	ग —		
ऽ हो ऽ	क्यों ऽ		

अन्तरा

		०	३
	ग म	ध — ध ध	ध — ध ध
	न त	म ऽ स्त क	ग ऽ र्व थ
×	२		
नि ध नि	प — ग —	म म प —	प ध सं सं
न क र	ते ऽ यौ ऽ	व न के ऽ	ध न र स
ध प म	ग —		
न ढ र	ते —		

सिन्ध भैरवी—तीन ताल

स्थायी

	२	०	३
स	स रे स स	ध नि ध प	ध — नि नि
अ	रु ण य ह	म धु म य	दे ऽ श ह
X			
स — स, स	स रे स स	स स — रे	ग ग म म
मा ऽ ,रा अ	रु ण य ह,	ज हाँ ऽ प	हुँ च अ न
रे — ग म	ग रे स —	नि स ध प	ध — नि नि
जा ऽ न क्षि	ति ज को ऽ	मि ल ता ऽ	ए ऽ क स
स — स,			
हा ऽ रा,			

अन्तरा

	२	०	३
स	स रे स स,	स रे स रे	— ग म म
अ	रु ण य ह	स र स ता	ऽ म र स
X			
रे — ग म	ग रे स स	नि स ध प	ध — नि नि
ग ऽ र्भ वि	भा ऽ प र	ना ऽ च र	ही ऽ त रु
स स — स	नि स रे ग स स	प प प —	प — ध ध
शि खा ऽ म	नोऽ ऽ ऽ ह र	छि ट का ऽ	जी ऽ व न
म प ग म	रे ग रे स	नि स ध प	ध — नि नि
ह रि या ऽ	ली ऽ प र,	मं ऽ ग ल	कुं ऽ कु म
सं — स			
सा ऽ रा ,			

धुन कजली—कहरवा ताल

स्थायी

×	२	०	३
स	— स नि नि	स — ग ग	ग म प ध
आ	ऽ ज ऽ स	यों ऽ व न	के ऽ मा ऽ
ग म — ग	— ग रे —	रे ग म प ग म	रे ग नि स
घ वी ऽ कुं	— ज में ऽ	को ऽऽ कि ल	बो ऽ ल र
रे — —,			
हा ऽ ऽ,			

अन्तरा

×	२	०	३
मं मं मं —	मं मं मं —	मं मं प प	— — — —
म धु पी ऽ	क र पा ऽ	ग ल हु आ	ऽ ऽ ऽ ऽ
रे रे मं —	मं प ध नि	प — — —	— — — प,
क र ता ऽ	प्रे ऽ म- प्र	ला ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ प,
रे रे रे मं	मं — मं —	प — प प	— — — —
शे थि ल हु	आ ऽ जा ऽ	ता ऽ है व श	ऽ ऽ ऽ ऽ
— मं —	मं प ध नि	प — प, म	ग रे स नि
ऽ से ऽ	अ प ने ऽ	आ ऽ प, ला	ऽ न के ऽ
— ग ग	ग म प ध	प — —, म	ग रे स नि,
ऽ ध न	खो ऽ ल र	हा ऽ ऽ, आ	ऽ ज ऽ स,

आगे ऊपर के अनुसार